ARSHA GRANTHAWALI LAHORE-R. L. No. 575.

Vol. VIII.] वैशाख, ज्येष्ठ [Nos. 4. 5.

आर्षग्रन्थावलि

सांख्य-शास्त्र के तीन प्राचीन ग्रन्थ

कपिलमुनि प्रणीत "तत्व-समास"

पञ्चशिखाचार्य प्रणीत "सांख्य-सूत्र"

ईश्वरकृष्ण प्रणीत "सांख्यकारिका"

(विषय-२७५)

पं० राजाराम संस्कृत प्रोफेसर

डी० ए० वी० कालेज लाहौर प्रणीत—

सरल-हिन्दी-भाष्य सहित

1912.

PRINTED AT THE BOMBAY MACHINE PRESS, LAHORE.

७००) का पारितोषिक

श्रीवाल्मीकि रामायण की टीका लिखने पर

श्रीवाल्मीकि रामायण की यह टीका, अपने ढंग की एक ही है इसमें यह गुण हैं—

(१) टीका बड़ी सरल है, बच्चे भी समझ सक्ते हैं।

(२) अर्थ में कहीं भी पक्षपात का लेश नहीं, जो सच्चा अर्थ है वही प्रकट किया गया है।

(३) श्लोक श्लोक का अलग २ अर्थ दिया है। जो अंक ऊपर मूल श्लोकों में हैं, वही नीचे अर्थ में हैं। इससे थोड़ी संस्कृत जानने वाला भी अपने आप बहुत लाभ उठा सक्ता है।

(४) कण्ठ करने योग्य श्लोकों पर यह + चिन्ह दिया गया है। इस चिन्ह वाले श्लोकों को आप कण्ठ करलें, वा अलग कापी में लिख लें, तो प्रत्येक अवसर पर रामायण के उत्तम २ उपदेशों को आप दूसरों को सुना सकेंगे और स्वयं आनन्द उठा सकेंगे।

अतएव इस टीका पर प्रसन्न होकर २००)रु० पञ्जाब गवर्नमिन्ट ने और ५००)रु० पञ्जाब यूनीवर्सिटी ने पारितोषिक दिया है। समाचार पत्रों और योग्य २ विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से इसकी प्रशंसा की है अतएव यह पुस्तक इस योग्य है, कि हर एक घर में इसकी एक २ प्रति अवश्य हो। मूल्य भी सस्ता है। पहले भाग का ३) दूसरे का २।)

साथ ही यदि आप आर्षग्रन्थावलि के भी ग्राहक बनें, तो दोनों भाग का केवल ४॥)

मिलने का पता—

मैनेजर आर्षग्रन्थावलि, लाहौर॥

नोट—रामायण के सिवाय जो और उत्तम २ ग्रन्थ भाषा-टीका समेत छपे हैं, उनका सूचीपत्र इसी पुस्तक के अन्त में देखो।

साख्यशास्त्र का विषयसूची ।

ईश्वर कृष्णप्रणीत सांख्य कारिका पृष्ठ—३४—से १०८

साख्यशास्त्र

भूमिका ।

सांख्यशास्त्र के प्रवर्त्तक भगवान् कपिलमुनि हुए हैं, जो सब से पहिले दर्शनकार हैं। इसीलिए कपिलमुनि को आदिविद्वान् कहा है।

सांख्यशास्त्र के प्रवर्त्तक कपिलमुनि

श्वेताश्वतर उपनिषद् में परमेश्वर की महिमा गाते हुए, जो मनुष्य पर उसकी कृपादृष्टि होती है, उनके वर्णनमें कहा है—" ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्"=जो पहले उत्पन्न हुए ऋषि कपिल को ज्ञानों से भर देता है, और उत्पन्न होते हुए पर दृष्टि डालता है॥ "उत्पन्न होते हुए पर दृष्टि डालता है" इस कथन से यह पाया जाता है, कि भगवान् कपिल ने दूसरे मनुष्यों की तरह परिश्रम करके ज्ञान का प्रकाश नहीं पाया, अपितु ऋषियों की तरह साक्षात् भगवान् की कृपा दृष्टि का यह फल पाया है, अतएव कपिल को यहां ऋषि कहा है॥

कपिलमुनि को ज्ञान किससे मिला

सांख्य के ग्रन्थों में यह एक प्रसिद्ध वार्ता है, कि कपिल को ज्ञान स्वाभाविक था। सांख्यकारिका ४३ पर वाचस्पति मिश्र ने लिखा है " सर्गादावादिविद्वान् अत्र भगवान् कपिलो महामुनिर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्य सम्पन्नः प्रादुर्बभूव

सृष्टि के आदि में आदिविद्वान् पूजनीय महामुनि कपिल धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य से सम्पन्न हुआ प्रकट हुआ ॥ गौडपाद ने भी इसी कारिका के भाष्य में लिखा है—" भगवतः कपिलस्यादिसर्गे उत्पद्यमानस्य चत्वारो भावाः सहोत्पन्ना धर्मोज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यम् " सृष्टि के आदि में उत्पन्न होते हुए भगवान् कपिल के चार भाव साथ उत्पन्न हुए—धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य । और सब से बढ़कर प्रमाण इस विषय में भगवान् पञ्चशिखाचार्य का यह सूत्र है "आदि विद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रंप्रोवाच"=आदि विद्वान् भगवान् परमऋषि (कपिल) निर्माणचित्त (अपने सङ्कल्प से रचे, न कि कर्मों से बेबस मिले चित्त) के अधिष्ठाता होकर जिज्ञासा करते हुए आसुरि को दयाभाव से शास्त्र का उपदेश किया ॥ इससे यह बातें सिद्ध होती हैं, कि (१) कपिल आदि विद्वान् अर्थात् पहला दर्शनकार है (२) वह मुक्त पुरुष था, उसका जन्म ग्रहण जगत् के उद्धार के लिये था (३) उसने एक शास्त्र रचा (४) उसका पहला जिज्ञासु आसुरि था, जिसको उसने अपने शास्त्र का उपदेश किया ॥

कपिल के श्रीमुख के उपदेश किस ग्रन्थ में हैं

कपिल ने जो सूत्र रचे, वह क्या यही वर्त्तमान में प्रसिद्ध विज्ञानभिक्षु कृत भाष्य वाला सांख्यदर्शन है, वा वह कोई और सांख्य दर्शन है ? इस समय प्रसिद्ध तो यह है, कि यही सांख्यदर्शन कपिल रचित है । पर यह प्रसिद्धि प्रामाणिकी नहीं । प्रमाण इस के विरुद्ध हैं, जैसा कि :—

इस समय सांख्य के दो ग्रन्थ प्रचलित हैं, एक यह सांख्य दर्शन, दूसरा सांख्यकारिका वा सांख्यसप्तति । अब इन दोनों ग्रन्थों में से प्राचीन कौन है, जब हम इसका अनुसन्धान करते हैं, तो यह प्रतीत होता है, कि सांख्यकारिका इस दर्शन से प्राचीन हैं। हेतु यह हैं :-

(१) पुराने आचार्यों (शंकराचार्य, चित्सुखाचार्य आदि) ने इन सूत्रों में से एक भी सूत्र कहीं उद्धृत नहीं किया, किन्तु जहां २ सांख्य के प्रमाण की आवश्यकता हुई है, वहां २ सांख्य कारिकाओं को उद्धृत किया है । यदि यह सांख्यसूत्र कपिल-रचिततया उनके सामने होते, तो अवश्य इन्हीं को उद्धृत करते। अथवा ऐसा तो कभी न होता, कि इनमें से एक भी सूत्र उद्धृत न करते, जब कि अन्य दर्शनों के उन्होंने सूत्र ही उद्धृत किये हैं। इससे स्पष्ट है, कि इन सूत्रों से कारिका पुरानी हैं॥

(२) "हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्। (सांख्य सूत्र १।१२४) और "सामान्य करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च (२।३१) यह दो सूत्र कारिका १० और २९से हूबहू मिलते हैं। अब यह स्पष्ट है कि यह पाठ या तो कारिकाकार ने सूत्रों से लिया है वा सूत्रकार ने कारिकाओं से लिया है। देखना यह है, कि किस ने यह पाठ स्वयं पढ़ा है और किसने उससे लिया है । यह स्पष्ट है कि सूत्र किसी छन्द में नहीं, और कारिकाएं आर्या छन्द में हैं । सो कारिकाकार ने तो यह पाठ इसीतरह रचना था, क्योंकि उसको आर्या छन्द बनाना था । पर सूत्रकार ने छन्द नहीं बनाना था। दैवयोग से उस से ऐसा बनगया हो, यह भी नहीं । क्योंकि आर्या

छन्द मात्राछन्द है। दैवयोग से उसका सारा अर्थ बन जाए, बड़ा कठिन है, फिर एक जगह नहीं, दो जगह। और दो ही नहीं, तीसरी जगह भी है। कारिका २५ का पूर्वार्ध है। " सात्विक एकादशकःप्रवर्तते वैकृतादहंकारात्"=इस के स्थान सूत्र २।१८है "सात्विक मेकादशकं प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्" सूत्र और कारिका में केवल पुंनपुंसक का भेद है। वस्तुतःसूत्रकारिका एक ही हैं। यहां " प्रवर्त्तते " इस क्रिया पद का मध्य में आना भी इस बात का साधक है, कि यह छन्दोरचना हुई है। छन्दो रचना कारिकाकार को ही अभीष्ट थी। सो उसने यह पाठ स्वयं रचा, सूत्रकार ने उससे लिया, यही सिद्ध होता है। इतना दैवयोग ही नहीं होता गया, और भी तो सूत्रग्रन्थ हैं, इनमें से भी तो किसी को आर्या छन्द के दैवयोग का सौभाग्य मिलता। और यह तो हमने श्लोकार्ध दिखलाए हैं। श्लोक पाद तो कई जगह ठीक इसीतरह मिले हैं। (देखिये कारिका १७) " संघात परार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्। पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च "। सूत्र १। १४० से १४४ तक " संहत परार्थत्वात्, त्रिगुणादि विपर्ययात्, अधिष्ठानाच्चेति, भोक्तृ भावात्, कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च। तथा कारिका ९ शक्तस्य शक्य करणात्, कारण भावाच्च। सूत्र १। ११७, ११८ "शक्तस्य शक्य कारणात्, कारण भावाच्च। तथा कारिका १५ " परिमाणात, समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च " सूत्र १।१३०

से१३२ तक। "परिमाणात्, समन्वयात्, शक्तितश्चेति। तथा कारिका ५४ " ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः। मध्ये रजो विशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः " सूत्र " ऊर्ध्वं सत्त्व विशाला, तमो विशाला मूलतः, मध्ये रजो विशाला, आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तम् " ३।४८, ४९, ५०, ४७। तथा " सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिः " कारिका ८ सूत्र १। १०९ है, इत्यादि॥

आर्या छन्द में सूत्रों की इतनी रचना अकस्मात् नहीं हुई। इसमें हेतु यही होसक्ता है, कि कारिकाओं से यह सूत्र लिये गए हैं, अतएव कारिकाओं से नए हैं॥

(३) वाचस्पति मिश्र एक बड़ा योग्य दार्शनिक हुआ है। उसने छहों दर्शनों पर ग्रन्थ रचे हैं। वैशेषिक न्याय, योग और वेदान्त पर तो भाष्यादि पहले विद्यमान थे, इसलिये उस ने सीधा सूत्रों पर नहीं, किन्तु सूत्रों के भाष्यादि पर अपनी टीका लिखी है। मीमांसा पर भाष्य और भाष्य पर सविस्तर व्याख्या कुमारिल भट्ट की पहले ही विद्यमान थी, इसलिये वाचस्पति ने मीमांसा पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा है। इसका यह भी हेतु था, कि मीमांसा में दार्शनिक विचार बहुत थोड़े सूत्रों में हैं,शेष सब कर्मकाण्ड की इति कर्तव्यता पर विचार हैं। दार्शनिक वाचस्पति को दार्शनिक विचारों से ही प्रेम था, वह उसने अपने स्वतन्त्र ग्रन्थ में दिखला दिये। पर सूत्रों के प्रमाण उस ग्रन्थ में बराबर हैं। अब सांख्य में वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका लिखने के लिये यही कारिकाएं चुनीं, और इन सूत्रों में से एक भी सूत्र अपनी टीका में उद्धृत नहीं किया। यदि यह सूत्र उसके सामने होते, तो वह इन पर यदि

पुराना कोई भाष्य पाता, तो उस पर टीका लिखता, न पाता तो सीधा सूत्रों पर भाष्य लिखता, इतना उदासीन न होजाता, कि एक सूत्र भी प्रमाण न देता । इससे स्पष्ट है, कि उसके सामने सूत्र थे ही नहीं, कारिकाएं ही थीं । इसलिये कारिकाएं इन सूत्रों से पुरानी हैं ॥

(४) किञ्च इन सूत्रों पर विज्ञानभिक्षु ने अपने भाष्य में कई जगह कारिका के प्रमाण दिये हैं, पर वाचस्पति ने कारिका की टीका में इन सूत्रों का कोई प्रमाण नहीं दिया ॥

(५) सूत्रों की बनावट से भी यह सिद्ध होता है, कि सूत्र कारिका के ढांचे में ढले हैं । जैसे कारिका १२ में है "प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः," सूत्र १ । १२७ में है "प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः" यहां सूत्र की स्वतन्त्र बनावट "सुख दुःख मोहाद्यैः" अच्छी होसक्ती थी । कारिका ६७में है "चक्रभ्रमिवद् धृत शरीरः" सूत्र ३।८२ है "चक्र भ्रमणवद् धृत शरीरः" इस "धृत शरीरः" पद को "तिष्ठति" की आकाङ्क्षा है । यह पद कारिका में विद्यमान है, सूत्र में अध्याहार करना पड़ता है ॥

इत्यादि हेतुओं से कारिका इन सूत्रों से प्राचीन सिद्ध होती हैं, और कारिका कपिल के उपदेश के बहुत पीछे की हैं, तब यह सूत्र सुतरां कपिल रचित नहीं होसकते ।

और भी स्पष्ट हेतु हैं, जिनसे यह सूत्र कपिल रचित सिद्ध नहीं होते । कारिका ७० में लिखा है, कपिल ने आसुरि को उपदेश किया, आसुरि ने पंचशिखाचार्य को, पंचशिखाचार्य ने फिर शास्त्र का विस्तार किया । इस से यह सिद्ध होता

है, कि कापिलरचित शास्त्र छोटा सा है, उसका खोलकर कहनेवाला शास्त्र पंचशिखाचार्य का है । पंचशिखाचार्य कपिल के शिष्य का शिष्य था । अब यह दर्शन छोटा सा नहीं, बड़ा सविस्तर है । यदि इसको छोटा सा मानें, तो इसका विस्तार भाष्य होसकता है । पर पञ्चशिखाचार्य ने भाष्य नहीं रचा, सूत्र ही रचे हैं । इससे स्पष्ट है, कि कापिल के बहुत थोड़े सूत्रों का पञ्चशिखाचार्य ने अपने बहुत अधिक सूत्रों में विस्तार किया, और वह बहुत थोड़े से सूत्र यह नहीं होसक्ते, जो ५२६ हैं ॥

फिर इन सूत्रों में ५।३२ और ६।६८ इन दो सूत्रों में पञ्चशिखाचार्य का मत दिखलाया है । यदि यह सूत्र कापिलरचित होते, तो इनमें पञ्चशिखाचार्य को अपने प्रमाणीभूत आचार्यों में न दिखलाया होता, जब कि पञ्चशिखाचार्य ने कापिल से शिक्षा पाए हुए आसुरि से जाकर यही शिक्षा ग्रहण की । और यह बात कि कपिल ने पहले आसुरि को यूंही उपदेश दिया हो, शास्त्र न रचा हो, शास्त्र पीछे रचा हो, जब पञ्चशिख भी आचार्य बनगया हो, ठीक नहीं । क्योंकि स्वयं पञ्चशिखाचार्य ने अपने सूत्र में लिखा है; कि "**आसुरये तन्त्रं प्रोवाच**" आसुरि को शास्त्र पढ़ाया (देखो पूर्व पृष्ठ २) । अतएव यह शास्त्र जिस में पञ्चशिखाचार्य, शास्त्रकार का प्रामाणिक पुरुष है, कपिल रचित नहीं । किञ्च योगदर्शन पर व्यासभाष्य में पञ्चशिखाचार्य के कई सूत्र प्रमाण दिये हैं । षष्टितन्त्र का भी प्रमाण है, पर इन सूत्रों में से कोई प्रमाण नहीं, यदि यह सूत्र कापिल रचित होते, तो क्या भगवान् व्यास पञ्चशिखाचार्य के ही सूत्र प्रमाण देते, इन में से कोई न देते । इस से सिद्ध है, कि यह कपिल के हैं ही नहीं ॥

सच तो यह है, कहां आदिविद्वान् भगवान् कपिल और कहां यह सूत्र, जिनमें वैशेषिक न्याय बौद्ध के अवान्तर भेदों के और नवीन परिष्कृत वेदान्त के पारिभाषिक शब्द * लिखकर उनका खण्डन किया है। जिस से पाया जाता है, कि इन पारिभाषिक शब्दों के प्रचार के पीछे यह ग्रन्थ रचा गया। केवल यही एक दर्शन है, जिस में नव्य न्याय के ग्रन्थों की तरह मंगलाचरण पर विचार किया है "**मंगला चरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनात् श्रुतितश्चेति**" ५।१

कपिलमुनि प्रणीत तत्वसमास

अब हमें यह पता लगाना चाहिये, कि फिर कपिलमुनि प्रणीत शास्त्र कौन सा है। विज्ञान भिक्षु ने भूमिका में लिखा है कि "**तत्व समाख्यं हि यत् संक्षिप्तं सांख्यदर्शनं तस्यैव प्रकर्षेणास्यां निर्वचनम्**" तत्वसमास नामी जो संक्षिप्त सांख्यदर्शन है, उसी को इस (षड्ध्यायी-दर्शन) में खोलकर बतलाया गया है। इस से स्पष्ट है कि मूल सांख्यदर्शन तत्त्वसमास है॥

तत्वसमास की ढूंढ़ और सम्पादन

तत्वसमास की ढूंढ़ करते हुए मुझे तीन ग्रन्थ मिले हैं, एक तो अपने पूजनीय श्वशुर से जो उनके बड़ों के पुस्तकालय में था। इसके आदि और समाप्ति में "**कपिलमुनि प्रणीतं तत्वसमासाख्यं सांख्यदर्शनं**" लिखा है। इसके सूत्र २२ हैं। और भाष्य सनन्दनाचार्यकृत है। दूसरा अपने पूज्य धर्म भ्राता गोस्वामी गंगादासजी से मिला है। जो उन्होंने गोविन्दाचार्य के पुस्तक से स्वयं लिखा है। सूत्र इसके

---

* देखो १।२०—२५; १।४२—४७; ५।५४—५७; ६।१५; ६३॥

भी २२ हैं। यह मूल है। हां सूत्रार्थ टिप्पनी में दिया हुआ है। तीसरा पुस्तक १९९० ई० में कलिकाता में छपा था। इस पर हरिहर के पुत्र परमहंसाचार्य माधव परिव्राजक का रचित विवरण है। सूत्र इसके भी २२ हैं। इन तीनों के आधार पर मैं इस ग्रन्थ को सम्पादन करता हूं। यह छोटे २ सूत्र और संख्या में २२, तथापि इन में सांख्य का मूल उपदेश पूरा है॥

सांख्य के दूसरे प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन

सांख्य के दूसरे प्राचीन ग्रन्थ पञ्चशिखाचार्य के सूत्र हैं। यह ग्रन्थ मुझे अभीतक नहीं मिला, न किसी से इसकी विद्यमानता का ही पता लगा है। पर जो सूत्र इसके योगभाष्य में उद्धृत किये हुए हैं, वह बड़े मनोहर और सविस्तर है। जब तक वह सूत्र पूरे मिलें (वा कदाचित् हमारे दौर्भाग्य से अब न ही मिलें) तब तक मैंने उन उद्धृत सारे सूत्रों को इकट्ठा करके उचित क्रम में रखकर छाप देना उचित समझा है, जिससे हमारे पाठकों को उतना रस तो मिल जाए। तीसरा प्राचीन पुस्तक वार्षगण्याचार्य प्रणीत षष्टितन्त्र है। यह भी अभी तक बड़ी ढूंढ से भी नहीं मिला। पर सांख्यसप्तति इसी षष्टितन्त्र के आधार पर बनी है। उस के सविस्तर विषय को इसमें संक्षिप्त किया गया है, और उसकी आख्यायिकायें इसमें छोड़ दी गई हैं, तथापि इस ग्रन्थ में सिद्धान्तों का सविस्तर वर्णन है, इसलिये पञ्चशिखाचार्य के सूत्रों के अनन्तर सांख्यसप्तति का सम्पादन भी उचित समझा है। इससे सांख्य के सारे सिद्धान्तों का सविस्तर वर्णन होजाएगा। अतएव तत्त्व समास और पञ्चशिखाचार्य्य के सूत्रों के साथ सांख्य सप्तति को अवश्य पढ़ें।

तत्त्व-समास

अथातस्तत्व समासः ॥१॥

शब्दार्थ–(अथ) अब (अतः) इस लिये (तत्त्व-समासः) तत्त्वों का संक्षेप ।

अन्वयार्थ–अब (यतः दुःखों की निवृत्ति का साधन तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान है) इसलिये तत्त्वों का संक्षेप कहते हैं ॥

भाष्य–इस जगत में चेतनावाले प्रत्येक जन्तु को " मैं सुखी होउं, कभी दुःखी न होउं" । इसप्रकार सुख की उत्पत्ति और दुःख की निवृत्ति में बलवती इच्छा होती है । पर दुःख की निवृत्ति हुए बिना सुख की उत्पत्ति हो नहीं सक्ती, क्योंकि सुख और दुःख प्रकाश और अन्धकार की नाईं परस्पर विरुद्ध धर्म हैं । वह इकट्ठे रह नहीं सक्ते । सो जो यह चाहता है, कि सदा के सुख में वास करे, उसको दुःख की जड काट देनी चाहियें । दुःख की जड़ अज्ञान है, जितना अधिक अज्ञान होगा, उतनाही अधिक दुःख होगा, और जितना थोड़ा अज्ञान होगा, उतनाही थोड़ा दुःख होगा, क्योंकि जिस तत्त्व का अज्ञान होगा, उसी से दुःख होगा । जिसका यथार्थ ज्ञान होगया, उससे फिर दुःख नहीं, सुख होगा । जिस २ तत्त्व का यथार्थ ज्ञान होता जाएगा, उस २ से अभय मिलता जाएगा, जब सारे तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान होजाएगा, तो सब से अभय मिल जाएगा । सो सारे तत्त्वों का यथार्थ जानना ही दुःख की जड़ को काटना है, इसलिये सारे तत्त्वों का संक्षेपतः विचार आरम्भ करते हैं ॥

संगति—तत्वों के कहने की प्रतिज्ञा करके अब तीन सूत्रों में संक्षेपतः सारे तत्वों का वर्णन करते हैं :-

अष्टौ प्रकृतयः । २—षोडश विकाराः । ३—पुरुषः ४ ।

अर्थ—आठ प्रकृतियें (२) सोलह विकार (३) पुरुष (४)

भाष्य—तत्त्व यह २५ हैं—अव्यक्त, महत्, अहङ्कार, पांच तन्मात्रें, पांच महाभूत, ग्यारह इन्द्रिय, और पुरुष ॥

इनमें से पुरुष चेतन है, शेष २४ जड़ हैं। इस तरह पर इन तत्त्वों के दो भेद होसक्ते हैं, जड़ और चेतन। जड़ के फिर दो भेद हैं, प्रकृति और विकृति। प्रकृति वह जिस से आगे कोई और तत्त्व बन जाता है, विकृति वह जिससे आगे कोई नया तत्त्व नहीं उत्पन्न होता ॥

प्रकृतियां आठ हैं, अव्यक्त, महत्, अहङ्कार और पांच तन्मात्र। इनमें से मूलतत्त्व तो अव्यक्त ही है, और सारे तत्त्व उससे इसतरह पर उत्पन्न हुए हैं। कि पहले केवल एक अव्यक्त ही तत्त्व था, पुरुष उस अव्यक्त में सोए पड़े थे। अब जैसा कि चुम्बक की सन्निधि से लोहे में क्रिया उत्पन्न होती है, इसी तरह चेतन पुरुषों की सन्निधि से अव्यक्त में क्रिया हुई। वह क्रिया पुरुषों की सन्निधि में पुरुषों के लिये हुई थी, इसलिये उसका फल यह हुआ कि अव्यक्त से महत् उत्पन्न हुआ। यह महत् ही पुरुष के लिये अन्तःकरण वा बुद्धि है। इसी को समष्टिरूप में महत् तत्त्व वा सब का सांझा अन्तःकरण और इसी को व्यष्टिरूप में बुद्धि वा अपना२ अन्तःकरण कहते हैं। इस महत् में फिर आगे क्षोभ हुआ, तो अहङ्कार उत्पन्न हुआ, अर्थात् समष्टि अस्मिता "मैं हूं" की वृत्ति उत्पन्न हुई, यह महत् का कार्य द्रव्यरूप है। फिर अहङ्कार

में क्षोभ होकर पञ्च तन्मात्र अर्थात् शब्द तन्मात्र, * स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र, और गन्ध तन्मात्र, उत्पन्न हुए, अहङ्कार से ही ग्यारह इन्द्रिय † भी उत्पन्न हुए। पञ्च तन्मात्र से पञ्च महाभूत अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी उत्पन्न हुए ‡॥

इनमें से पहले आठ अव्यक्त, महत्, अहङ्कार और पञ्च तन्मात्र प्रकृति कहलाते हैं। क्योंकि इनमें से प्रत्येक से आगे एक नया तत्त्व उत्पन्न होता है—अव्यक्त से नया तत्त्व महत्, महत् से नया तत्त्व अहङ्कार, अहङ्कार से नए तत्त्व पञ्च तन्मात्र (और इन्द्रिय) पञ्च तन्मात्र से नए तत्व पञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं। अब अहङ्कार से जो इन्द्रिय और पञ्चतन्मात्र से जो महाभूत उत्पन्न हुए हैं, वह सोलह विकृति वा विकार हैं, क्योंकि इनसे आगे जो कुछ उत्पन्न होता है—जैसे पृथिवी से गौ, गौ से दूध, दूध से दही

---

* अर्थात् किसी दूसरे तत्व से न मिला हुआ निरा शब्द द्रव्य, इसीप्रकार स्पर्श तन्मात्र इत्यादि में जानो॥

† ग्यारह इन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय—नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा। पांच कर्मेन्द्रिय—वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा। ग्यारहवां मन। सांख्य का सिद्धान्त है, कि इन्द्रिय अहङ्कार से उत्पन्न हुए हैं जब "मैं हूं" की वृत्ति का उत्पादक सामान्य द्रव्य उत्पन्न हुआ, तो वही 'मैं देखता हूं' इत्यादि विशेषवृत्ति के उत्पादक विशेष द्रव्य में परिणत हुआ॥

‡ तन्मात्रों के मेल से महाभूत उत्पन्न हुए। शब्द तन्मात्र के साथ थोड़ा २ दूसरे तन्मात्रों के मेल से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश में अधिक तत्त्व शब्द तन्मात्र है, दूसरे तन्मात्र थोड़े २ मिले हुए हैं। इसीलिये आकाश का मुख्य गुण शब्द है। इसीप्रकार स्पर्श तन्मात्र की अधिकता से स्पर्शगुण वायु, रूपतन्मात्र की अधिकता से रूपगुण तेज, रस तन्मात्र की अधिकता से रसगुण जल, गन्धतन्मात्र की अधिकता से गन्धगुणा पृथिवी उत्पन्न हुई॥

इत्यादि, वह कोई नया तत्त्व नहीं बनता, जो धर्म पृथिवी में है, वही आगे गौ, दूध, दही में है, इसलिये यह निरे विकृति हैं ॥

आठ प्रकृति और सोलह विकृति यह चौबीस तत्त्व जड़ हैं, मूल में एक ही जड़ अव्यक्त है, और सब उसके साक्षात् वा परम्परा से परिणाम हैं। पचीसवां पुरुष चेतन तत्त्व है, जो इस शरीर में द्रष्टा है। इसी के सम्बन्ध से यह शरीर चेतन सा होरहा है ॥

त्रैगुण्यम् ॥ ५ ॥

अर्थ—तीन गुणोंवाला होना।

भाष्य—सत्त्व, रजस्, तमस् यह तीन गुण हैं। सत्त्व का स्वभाव प्रकाश, रजस् का क्रिया और तमस् का स्थिति है। यह तीनों स्वभाव हरएक वस्तु में पाए जाते हैं। जो वस्तु स्थिर है, उसमें क्रिया उत्पन्न होजाती है, और वेगवती क्रिया के पीछे उस में प्रकाश प्रकट होजाता है। और जो प्रकाशवाली है, वह समयान्तर में प्रकाशहीन होजाती है, और अन्ततः क्रियाहीन भी होजाती है। जब एक वस्तु स्थिर है, तो उसमें तमस् प्रधान है, रजस् और सत्त्व गौण हैं, पर हैं वह भी अवश्य, जो अपने समय पर उसी में प्रकट होजाते हैं। जब वही वस्तु क्रियावाली है, तो उस में रजस् प्रधान है, सत्त्व और तमस् गौण हैं, जब फिर वही प्रकाश वाली है, तो उसमें सत्त्व प्रधान है, रजस् और तमस् गौण हैं, परन्तु हैं सभी जगह तीनों विद्यमान। सिवाय पुरुष के और जो कुछ है, वह सब त्रिगुणात्मक है ॥

संगति—तीनों गुणों को कहकर उनका कार्य दिखलाते हैं :-

सञ्चरः प्रति सञ्चरः ॥६॥

अर्थ—सृष्टि और प्रलय।

भाष्य—सृष्टि और प्रलय इन तीनों गुणों की अवस्था

विशेष हैं। प्रलय उस अवस्था का नाम है, कि जब यह तीनों गुण सम अवस्था में हों, कोई गौण कोई प्रधान न हो। और सृष्टि उस अवस्था का नाम है, कि जब इनमें हिलचल होकर कोई गौण कोई प्रधान होजाए, यही गुणप्रधान भाव अब इस सृष्टि में पायाजाता है। फिर जब पीछे हटते २ सारा गुणप्रधान भाव मिटकर तीनों गुण सम अवस्था में होजाएंगे, वही प्रलय होगी। यह सृष्टि और प्रलय गुणों की दो अवस्थाएं हैं, इस लिये एक के पीछे दूसरी होती ही रहती है ॥

संगति-सृष्टि कहकर उसके अवान्तर भेद कहते हैं :—

अध्यात्ममधिभूतमाधि दैवञ्च ॥७॥

अर्थ—अध्यात्म, अधिभूत, और अधिदैव ॥

भाष्य—यह सारी सृष्टि तीन भागों में विभक्त है। एक सीधी हमारे आत्मा के साथ सम्बन्ध रखनेवाली जैसे देह, इन्द्रिय, अहङ्कार, बुद्धि। दूसरी प्राणधारियों की भिन्न २ सृष्टि जैसे पशु पक्षी आदि। तीसरी दिव्य शक्तियों की सृष्टि जैसे पृथिवी सूर्य आदि ॥

तीन ही प्रकार का इनमें सुख दुःख मिलता है। अध्यात्म सुख दुःख दो प्रकार का है। एक शारीरिक और दूसरा मानस। शारीरिक सुख शरीर के दृढ़िष्ठ बलिष्ठ फुर्तीला और स्वस्थ होने से होता है। शारीरिक दुःख वह है, जो शरीर की दुर्बलता और रोगों से होता है। मानस सुख वह है, जो शुभ संकल्पों और शान्ति आदि से होता है। मानस दुःख वह है, जो ईर्षा असूया और शोक आदि से होता है। अधिभूत वह है, जो दूसरे प्राणियों से होता है जैसे सुख गौ घोड़े आदि से। और दुःख सर्प बिच्छु आदि से। अधिदैव सुख, प्रकाश और वृष्टि आदि से होता है, और दुःख अति घर्म और अति वृष्टि आदि से।

संगति-अब मोक्ष की उपयोगिनी अध्यात्म दृष्टि का सविस्तर वर्णन करते हैं :-

पञ्चाभिबुद्धयः ॥८॥

अर्थ-पांच वृत्तियां ॥

भाष्य-बुद्धि की वृत्तियां पांच हैं-प्रमाण विपर्यय, विकल्प, निद्रा, और स्मृति। प्रमाण जो यथार्थ ज्ञान है, वह तीन प्रकार का है, जैसा कि आगे सूत्र २१ में कहेंगे। विपर्यय=अविद्या=भ्रान्ति, जैसे शरीर को आत्मा समझना। इसका विस्तार सूत्र १२ में आएगा। विकल्प जैसे काठ की पुतली। यहां काठ और पुतली दो वस्तु नहीं, पर कही जाती दो की तरह हैं। तथा 'पानी से हाथ जल गया'। यहां पानी और पानी के अन्दर प्रविष्ट हुई जो अग्नि है, दो हैं, पर कहने में दो अलग नहीं कहीं, केवल पानी कहा है। यह ज्ञान प्रमाण भी नहीं, क्योंकि परीक्षा में काठ और पुतली दो नहीं, और पानी जलानेवाला नहीं। भ्रान्ति भी नहीं, क्योंकि भ्रान्ति यथार्थ ज्ञान होने पर उड़जाती है। सीप को जब सीप समझ लिया, तो फिर कोई उसे चांदी नहीं कहे वा समझेगा। पर यहां ज्ञानी भी कहने में काठ की पुतली और पानी से हाथ जलगया ही कहेगा, इसलिये यह प्रमाण और विपर्यय से भिन्न एक तीसरी वृत्ति है। निद्रा सोए हुए मनुष्यों को जो अपनी बेसुधि की सुध रहती है। और स्मृति जो इन्हीं वृत्तियों का फिर स्मरण होना है॥

पञ्च दृग्योनयः ॥९॥

अर्थ-पांच ज्ञान के स्रोत।

भाष्य-नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वचा यह पांच ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान के स्रोत हैं, ज्ञान के प्रवाह बुद्धि के लिये अन्दर बहाते रहते हैं, नेत्र रूप ज्ञान का, श्रोत्र शब्द ज्ञान का, घ्राण गन्धज्ञान का, रसना रस ज्ञान का, और त्वचा स्पर्शज्ञान का प्रवाह अन्दर बहाती है।

पञ्चवायवः । १० ।

अर्थ–पांच वायु ।

भाष्य–प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान यह पांच वायु है ।

प्राण अर्थात् उत्तम जीवन देह के उपरिभाग में रहता है, ऊपर के इन्द्रियों का काम उसके आश्रित है । अपान अर्थात् निचला जीवन देह के निचले भाग में रहता है, और निचले इन्द्रियों (मल मूत्र के त्याग आदि) का काम उसके आश्रित है, देह के मध्य भाग में समान रहता है, जो अन्न जलादि खाया पिया जाता है, उसके रस को सब अंगों के लिये बराबर बांटना उसका काम है । व्यान सारी स्थूल सूक्ष्म और अति सूक्ष्म नाडियों में घूमता हुआ शरीर के अंश २ में रुधिर का सञ्चार करता है । उदान जीवात्मा को शरीरान्तर वा लोकान्तर में लेजाता है ॥

पञ्चकर्मात्मानः । ११ ।

अर्थ–पांच कर्म की शक्तियां ।

भाष्य–बोलना, पकड़ना, चलना, मूत्र का त्याग । यह पांच शारीरिक कर्म है । इन पांचों कर्मों के करनेवाली वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा यह पांच शक्तियां पांच कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं ।

पञ्चपर्वा अविद्या ॥१२॥

अर्थ–पांच गांठोंवाली अविद्या ॥

भाष्य–अविद्या पांच प्रकार की है । अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश ॥

शरीर में आत्मबुद्धि अविद्या है । बुद्धि में आत्मबुद्धि अ-

स्मिता है। यह मेरे पास हो, ऐसी लोभ की वृत्ति राग है। यह दूर हो, ऐसी घृणा की वृत्ति द्वेष है। 'मैं न होऊं, ऐसा न हो' यह मृत्यु से डर की वृत्ति अभिनिवेश है। यह पांच गांठवाली अविद्या पुरुष को बड़ा दृढ फांसे हुए है ॥

अष्टाविंशतिधाऽशक्तिः ॥१३॥

अर्थ–अठाईस प्रकार की अशक्ति ॥

भाष्य–मनुष्य के पास बुद्धि एक वह वस्तु है, जिससे वह भोग अपवर्ग(मोक्ष) दोनों के समर्थ होता है, पर यदि बुद्धि में पूर्ण शक्ति हो। क्योंकि जितनी त्रुटि होती है, वह सब बुद्धि की अशक्ति से होती है। बुद्धि की अशक्ति अठाईस प्रकार की है। ग्यारह अशक्तियां तो ग्यारह इन्द्रियों के मारे जाने के हेतु होती हैं, जैसे नेत्र से अन्धा होना, कान से बहरा होना, घ्राण से गन्ध न आना, रसना से रस न मालूम होना, त्वचा से कुष्ठ होना, वाणी से गूंगा होना, हाथों से लूला होना, पाओं से पंगु होना, उपस्थ से नपुंसक होना, गुदा से गुदावर्त (मल बन्ध) होना, और मन से उन्माद होना, यह इन्द्रियों की अशक्ति से बुद्धि की अशक्ति ग्यारह प्रकार की है। बुद्धि की साक्षात् अशक्ति १७ प्रकार की है। अगले दो सूत्रों में ९ तुष्टियां और ८ सिद्धियां कहनी हैं, उनके उलटी ९ अतुष्टियां और ८ असिद्धियां मिलकर बुद्धि की १७ अशक्तियां हैं ॥

नवधा तुष्टिः ॥ १४ ॥

अर्थ–नौ प्रकार की तुष्टि।

भाष्य–तुष्टि=उपरति=उपराम=हटे रहना। यह पहले दो प्रकार की है, एक तो बाहर के विषयों से उपरति–वह बाह्य कहलाती है। दूसरी तत्त्वज्ञान के साधनों से उपरति, वह अध्यात्म

तुष्टि कहलाती है। बाह्य पांच प्रकार की है—शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इन पांच विषयों से पांच प्रकार के दुःख देखकर अर्थात् इनके कमाने में दुःख, रक्षा में दुःख, विषयों के नाश में दुःख, भोग में दुःख क्योंकि भोग के अभ्यास से कामना बढ़ती है, और वह बढ़ी हुई कामनाएं पूरी न हों तो कामी को दुःखी करती है। और दूसरों की हिंसा का दुःख (क्योंकि विना किसी का कुछ छीने भोग नहीं मिलता)॥

चार आध्यात्मिक तुष्टियां—प्रकृति, उपदान, काल और भाग्य नामी हैं। जैसे-यह तो जान लिया, कि आत्मा प्रकृति से अलग है, पर आत्मा के साक्षात्कार के लिये धारणा ध्यान समाधि का अभ्यास कुछ न करना, इस भरोसे पर, कि प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिये काम कर रही है, वह भोग की नाईं अपवर्ग भी अपने आप देगी। यह प्रकृति के भरोसे पर तुष्टि प्रकृति तुष्टि है। अथवा इस भरोसे पर, कि संन्यास के ग्रहण से अपवर्ग होजाएगा, यह संन्यास के भरोसे पर तुष्टि उपादान तुष्टि है, अथवा इस भरोसे पर, कि पुरुष धीरे२ उन्नति की ओर जारहा है, घबराने की आवश्यकता नहीं, उसे सहज स्वभाव से उन्नत होने दो, समय पाकर अनायास से मुक्त होजायगा, यह काल के भरोसे पर तुष्टि काल-तुष्टि है। अथवा इस भरोसे पर, कि भाग्य से ही मुक्ति होती है। अतएव वामदेव को जन्मतेही तत्त्वज्ञान हुआ, इसलिये भाग्य ही हेतु है। यह भाग्य के भरोसे पर तुष्टि भाग्यतुष्टि है। सो पांच बाह्य और चार आध्यात्मिक मिलकर यह नौ तुष्टियां है॥

अष्टधा सिद्धिः ॥१५॥

अर्थ—आठ प्रकार की सिद्धि।

भाष्य—सिद्धियां आठ हैं। ऊह, शब्द, अध्ययन, सुहृत्प्राप्ति,

दान, आध्यात्मिक दुःखहान, आधिभौतिक दुःखहान और आधिदैविक दुःखहान।

ऊह—पूर्व जन्म के संस्कारों से स्वयं इस सृष्टि को देख भालकर नित्य अनित्य चित् अचित् के निर्णय से २५ तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान होना।

शब्द—भेदी गुरु के उपदेश से ज्ञान होना।

अध्ययन—वेदादि शास्त्रों के अध्ययन से ज्ञान होना।

सुहृत्प्राप्ति—जो स्वयं लोगों का अज्ञान मिटाने के लिये जगत् में घूम रहे हैं, ऐसे किसी परम दयालु के मिल जाने से ज्ञान होना।

दान—जो अपने खाने पीने की आवश्यकताओं से निरपेक्ष होकर आत्मा को अनुभव करते हुए मस्त पड़े रहते हैं, उनको मिट्टी जल भोजन छादन आदि जिस वस्तु की आवश्यक्ता है, श्रद्धा के साथ उस २ वस्तु के लादेने से, उनके प्रसाद से ज्ञान लाभकरना।

यह पांच सिद्धियां तत्त्वज्ञान का उपाय है। जब इनमें से किसी के द्वारा तत्त्वज्ञान होगया, तो फिर उनका फल अगली तीन सिद्धियां उत्पन्न होती हैं॥

आध्यात्मिक दुःखहान-उसके आध्यात्मिक सारे दुःख मिटजाते हैं

आधिभौतिक दुःखहान-उसके आधिभौतिक सारे दुःख मिटजाते हैं

आधिदैविक दुःखहान—उसके आधिदैविक सारे दुःख मिट जाते हैं

संगति—अध्यात्म विषयोंका विस्तार करके मूल तत्वों के धर्म कहते हैं:—

दश मौलिकार्थाः ॥ १६ ॥

अर्थ—दस मूलभूत धर्म।

भाष्य--अव्यक्त और पुरुष के संयोग से सृष्टि रचना हुई है। सृष्टि में जो धर्म पाए जाते हैं, वह कार्य जगत् के धर्म हैं। उस से पहले मूल भूत अव्यक्त और पुरुष में जो धर्म पाए जाते हैं, वह मौलिक धर्म हैं। वह दस हैं:—

अस्तित्व, योग, वियोग और शेषवृत्तित्व यह चार धर्म तो दोनों में रहते हैं। अव्यक्त और पुरुष दोनों में अस्तित्व है, दोनों परस्पर संयुक्त होते हैं, जिससे सृष्टि रचना होती है, दोनों वियुक्त होते हैं, तब प्रलय वा मोक्ष होता है। दोनों पीछे विद्यमान रहते हैं, जब सृष्टि नाश होजाती है।

एकत्व, अर्थवत्व और पारार्थ्य—यह तीन धर्म अव्यक्त में है। अव्यक्त एक है, प्रयोजनवाली है पुरुष को भोग और अपवर्ग देना इसका प्रयोजन है। परार्थ है क्योंकि पुरुष के लिये काम करती है न कि अपने लिये ॥

अन्यता, अकर्तृत्व और बहुत्व यह तीन पुरुष के धर्म हैं। पुरुष परस्पर भिन्न हैं, वह स्वरूप से द्रष्टा हैं, कर्त्ता नहीं, कर्तृत्व गुणों में है। पुरुष संख्या में बहुत हैं।

संगति—सृष्टि रचना का प्रयोजन कहते हैं :—

अनुग्रहः सर्गः ॥ १७ ॥

अर्थ—अनुग्रह सृष्टि।

भाष्य—अव्यक्त की पुरुषके अनुकूल प्रवृत्ति सृष्टि है। क्योंकि अव्यक्त सृष्टि रचना में पुरुष के लिए बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय, देह और विषय रचती है। उसकी सारी ही रचना पुरुष के लिये है।

संगति—सृष्टि रचना जिन प्राणियों के अर्थ हैं, उनकी सृष्टि कहते हैं:—

चतुर्दशविधो भूत सर्गः ॥ १८ ॥

अर्थ—चौदह प्रकार का भूत सर्ग (प्राणियों की सृष्टि)।

भाष्य—चौदह प्रकारका भूत सर्ग है—ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, दैव, गान्धर्व, पित्र्य, विदेह और प्रकृतिलययह आठ प्रकार का दैवसर्ग है, जो भिन्न २ कर्म उपासना का फल है। नवां मानुषसर्ग

(मानुषी सृष्टि) है। मनुष्य से नीचे पशु, पक्षी, सरीसृप (रींगने वाले) कीट और स्थावर यह पांच प्रकार का तिर्यक्सर्ग है।

संगति–भूतसर्ग कहकर उनका बन्ध और मोक्ष कहते हैं :–

त्रिविधो बन्धः ॥१९॥ त्रिविधो मोक्षः ॥२०॥

अर्थ–तीन प्रकार का बन्ध। १९। तीन प्रकार का मोक्ष॥

भाष्य–तीन प्रकार का बन्ध है–दाक्षिणक, वैकारिक और प्राकृतिक। जो साक्षात्कार से शून्य रहकर फल कामना के अधीन होकर केवल इष्ट पूर्त कर्मों में रत हैं, वह दक्षिणमार्ग से चन्द्रलोक में फल भोगकर फिर आते हैं, क्योंकि वह अभी मुक्त नहीं हुए, उनका बन्ध दाक्षणिक बन्ध कहलाता है। और जो इन्द्रिय और मन इन विकारों को ही उपासना द्वारा साक्षात् कर रहे हैं। वह भी अपनी वासना के अधीन इनमें लीन रहकर फिर जन्म धारते हैं, उनका यह बन्ध वैकारिक वा वैकृतिक कहलाता है। और जो विकारों से आगे पहुंचकर आठ प्रकृतियों को ही साक्षात् कर रहे हैं, वह भी अपनी वासना के अधीन इनमें लीन रहकर डुबकी लगाए हुए पुरुष की नाईं फिर उठते हैं, उनका यह बन्ध प्राकृतिक कहलाता है। यह तीन बन्धन हैं इन तीनों बन्धनों से छूटना तीन प्रकार का मोक्ष है। निष्काम होना दाक्षणिक बन्ध से मोक्ष है, और विकृति प्रकृति से चित्त को परे लेजाकर अपने स्वरूप में स्थिति लाभ करना वैकारिक और प्राकृतिक बन्ध से मोक्ष है।

संगति–प्रमेय कहकर प्रमाण कहते हैं क्योंकि प्रमेय सिद्धि प्रमाण के अधीन होती है :–

त्रिविधं प्रमाणम् * ॥ २१ ॥

---

* "प्रमाण लक्षणं" यह मुद्रित पुस्तक का पाठ है॥

अर्थ-तीन प्रकार का प्रमाण।

भाष्य-प्रमाण तीन प्रकार का है, प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन। प्रत्यक्ष जो किसी इन्द्रिय से जाना जाए। अनुमान जो किसी चिन्ह से समझा जाय। आप्तवचन = किसी आप्त का उपदेश। आप्त उसको कहते हैं, जिसने पदार्थ को साक्षात् किया हो और सत्यवक्ता हो।

संगति-तत्त्व कहकर तत्त्वज्ञान का फल कहते हुए ग्रन्थ को समाप्त करते हैं :-

एतत् सम्यक् ज्ञात्वा कृतकृत्यः स्यात्। न पुनस्त्रिविधेन दुःखेनाभिभूयते॥२२॥

अर्थ-यह ठीक २ जानकर (पुरुष) कृतकृत्य होजाता है, और वह फिर तीन प्रकार के दुःख से नहीं दबाया जाता।

* तत्त्व-समास समाप्त हुआ *

पञ्चशिखाचार्य प्रणीत सांख्यसूत्र

संगति-सांख्यशास्त्र का प्रथम उपदेश किसने किसको किस प्रयोजन से किया, यह दिखलाते हैं :-

आदि विद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान्परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच॥ १॥

भाष्य-आदि विद्वान् (पहले दर्शनकार) भगवान् परमऋषि

(कपिल) ने निर्माणचित्त (अपने संकल्प से रचे, न कि कर्मों से बेवस मिले चित्त) के अधिष्ठाता होकर जिज्ञासा करते हुए आसुरि को दयाभाव से शास्त्र का उपदेश किया ॥

संगति–इस सृष्टि में एक तत्त्व जड़ और दूसरा चेतन ज्ञात होता है, उनमें से जड़ तत्त्व का वर्णन करते हैं :–

प्रधानं स्थित्यैव वर्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात्, तथा गत्यैव वर्तमानं विकार नित्यत्वाद प्रधानं स्यात्, उभयथाचास्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा, कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेष समानश्चर्चः ॥२॥

अर्थ–प्रधान यदि स्थिति से ही बर्ते, तो विकार के न करने से अप्रधान हो, और यदि गति से ही बर्ते, तो विकार के नित्य होने से अप्रधान हो, दोनों तरह इसकी प्रवृत्ति प्रधान नाम पाती है, अन्यथा नहीं, जो और कारण कल्पना किये गये हैं, उनके विषय में भी यह समान विचार है ॥

भाष्य–जड़ तत्त्व एक तो मूल है, दूसरा उसका कार्य। जो मूलतत्त्व है, उसको प्रधान कहते हैं, क्योंकि प्रधान अर्थात् मुख्य वही है, क्योंकि वह असली तत्त्व है। कार्य को विकार कहते हैं, क्योंकि वह असली तत्त्व में विकार अर्थात् तबदीली हुई है।

अब यह प्रधान यदि सदा स्थित ही रहती, कभी भी गति वाली न होती, तो कोई विकार न होता। तब प्रधान अप्रधान होजाती। जब उससे छोटा कोई होता ही न, तो वह किससे प्रधान

होती। और यदि सदा गति में रहती, कभी स्थित न होती, तो विकार सदा बना रहता, तब भी प्रधान अप्रधान होजाती, क्योंकि जब दोनों एक बराबर नित्य हुए, तो उनमें से एक प्रधान कैसे हो? इससे यह सिद्ध होता है, कि प्रधान में दो संस्कार हैं, स्थिति और गति। स्थिति संस्कार के उदय होने से वह काम बन्द करती है और प्रलय होती है। गति संस्कार के उदय होने से, वह महदादि कार्य को उत्पन्न करती है, और सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इन दोनों संस्कारों का उदय अस्त होता रहने से सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के पीछे सृष्टि होती रहती है॥

जो कुछ भी आदि कारण माना जाएगा, माया, वा परमाणु वा कुछ और। उन सब में यह विचार ऐसा ही होगा, यदि वह स्थित ही माने जाएं, तो सृष्टि की उत्पत्ति नहीं होसक्ती, और यदि सदागतिमें ही रहें, तो कार्य के नित्य होने से प्रलय नहीं होगी।

संगति—जगत् की मूल प्रकृति प्रधान क्या एक है वा अनेक हैं, उसका उत्तर देते हैं:—

मूर्त्तिव्यवधि जातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम्॥ *

अर्थ—मूर्त्ति, देश और जाति का भेद न होने से मूल तत्त्व में भेद नहीं है

भाष्य—भेद के ज्ञापक तीन हेतु होते हैं—मूर्त्ति, देश और जाति जैसे। कोई पुरुष एक जगह किसी पञ्जाबी को खड़ा देखकर अपने काम में ऐसा मग्न होगया, कि उसका इधर उधर ध्यान बिल्कुल न रहा, इतने में वह पञ्जाबी वहां से चला गया और ठीक उसी जगह एक नेपाली आ खड़ा हुआ। अब जब अपने काम से निवृत्त होकर वह उसे देखता है, तो कह देता है, कि यह

* यह सूत्र वार्षगण्याचार्य्य का है, पञ्चशिखाचार्य का नहीं।

वह मनुष्य नहीं है। यहां उसको भेद जितलानेवाली वस्तु जाति नहीं, क्योंकि दोनों मनुष्य हैं, देश भी नहीं, क्योंकि वह भी ठीक वहीं खड़ा है—किन्तु मूर्ति (आकार) है, जो पञ्जाबी की नेपाली से नहीं मिलती है, एवं एक देशवासियों वा एक जाति वालों की भी सर्वथा एक दूसरे से नहीं मिलती है॥

देश—एक ही आकृति और एक ही जाति के दो पार्थिव परमाणुओं में भेद का ज्ञापक देशभेद होता है॥

जाति—गौ और घोड़े में भेद की ज्ञापिका जाति होती है।

भेद के ज्ञापक यह तीनों मूलप्रकृति में नहीं हैं, क्योंकि मूल-प्रकृति सारे व्यापक है, इसलिए देश भेद नहीं। वह एक ही रूप है, इसलिये मूर्त्तिभेद नहीं, मूर्त्ति भेद के न होने से जाति भेद नहीं। सो भेद के ज्ञापक तीनों में से किसी के न होने से मूलतत्व में कोई भेद नहीं, वह एक ही है, और एक ही रूप है॥

संगति—यह सब कुछ यतः एकही प्रधान का कार्य है, अतः सर्व पदार्थ एक दूसरे के रूप में परिणत होजाते हैं, यह स्फुट उदाहरणों से दिखलाते हैं :—

जलभूम्योः पारिणामिकं रसादि वैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टं तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेषु ॥ ४ ॥

अर्थ—जल और भूमि का परिणाम से रस आदि सारे रूपों वाला होना स्थावरों में देखा गया है, तथा स्थावरों का जङ्गमों में, और जङ्गमों का स्थावरों में॥

भाष्य—वृक्ष, लता, वल्ली, झाड़ी, घास आदि स्थावर सभी जल और भूमि से उत्पन्न होते हैं, इनके पत्र पुष्प फल मूल आदि

में सब प्रकार के रस और सब प्रकार के रूप आदि पाए जाते हैं, इससे प्रतीत होता है, कि जल और पृथिवी में सब प्रकार का रूप रस आदि है, यदि न होता, तो उसके कार्यों में कहां से आता। तथा स्थावरों के रस आदि की विचित्रता मनुष्य पशु पक्षी आदि जङ्गमों में देखी गई है। वह इन के फल आदि को खाते हुए भिन्न२ रूप आदि वाले होते हैं। इसीप्रकार जङ्गमों का परिणाम स्थावरों में देखा गया है। हड्डियों की खाद से अंगूर के फल पुष्ट होते हैं, रुधिर के सेचन से अनार के फल लाल लाल जितने होजाते हैं। इसप्रकार सर्व जल भूमि आदिक सब रूप हैं॥

संगति-पंचभूतों के विषय में कहा है :—

एक जाति समन्वितानामेषां धर्ममात्रं व्यावृत्तिः ॥ ५ ॥

अर्थ—एक जाति से युक्त इनका धर्ममात्र से भेद॥

भाष्य—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश यह पांच महाभूत हैं। इनमें से पृथिवी ठोस है, जल स्नेहवाला है, तेज उष्ण है, वायु वहनेवाला है, और आकाश सारे भरपूर है। यह इनके सामान्य धर्म हैं, अर्थात् ठोसपन सारी पार्थिव वस्तुओं में है, इस ठोसपन से उन सब वस्तुओं की एक जाति (पृथिवीत्व जाति) जानी जाती है। इस एक जाति से युक्त होकर अपने २ विशेष धर्मों से उनका भेद होता है। एक वस्तु में जैसे शब्द आदि होते हैं, दूसरी में उससे विलक्षण होते हैं॥

संगति-शब्द और आकाश के सम्बन्ध के विषय में यह कहा है:—

तुल्यदेश श्रवणाना मेक देशश्रुतित्वं सर्वेषा भवति ॥ ६ ॥

अर्थ--तुल्य देश में श्रोत्रवाले सब लोगों को एक देश का श्रवण होता है ॥

भाष्य--सब लोगों के श्रोत्रों का तुल्य देश है, अर्थात् उन सब का एक आकाश ही आधार है, आकाश में जो शब्द प्रकट होता है, उसका एक देश जो हमारे श्रोत्र में आकर उत्पन्न होता है, वह हमें सुनाई देता है ॥

संगति--अब चेतन पुरुष का निरूपण करते हैं :--

अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृषु अकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रिया साक्षिण्युपनीयमानान् सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन् न दर्शन मन्यच्छङ्कते ॥

अर्थ--यह तीन गुणों के कर्त्ता होते हुए, चौथे, उनकी क्रियाओं के साक्षी, तुल्य अतुल्य स्वभाव वाले अकर्त्ता पुरुष में (बुद्धि से) प्राप्त कराए सारे भावों को स्वाभाविक देखता हुआ दूसरे चैतन्य की सम्भावना नहीं करता ॥

भाष्य--सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुणों में क्रिया उत्पन्न होती है, अतएव कर्त्ता (क्रिया करने वाले) यही हैं, इनसे भिन्न चौथा जो चेतन पुरुष है वह इनकी क्रियाओं का साक्षी है, अतएव वह कर्त्ता नहीं है। यह किसी अंश में गुणों के तुल्य स्वभाववाला है, गुण भी अनादि हैं, यह भी अनादि है। और किसी अंश में उन से विलक्षण स्वभाववाला है, वह जड़ हैं, यह चेतन है । सुख दुःख आदि सारे भाव उत्पत्ति वाले हैं, सो तीनों गुणों से उत्पन्न होते हैं, अतएव वह गुणों का धर्म है, न कि आत्मा का । आत्मा केवल चैतन्य स्वरूप है, जब बुद्धि इन भावों को आत्मा के सम्मुख रखती

है, तो वह इन को आत्मा का स्वाभाविक धर्म समझता हुआ इनसे अलग शुद्ध चैतन्य की सम्भावना नहीं करता है। वस्तुतः—

अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमाच परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते ।८

अर्थ—भोक्तृ शक्ति न परिणाम वाली है, न क्रियावाली है, तथापि परिणामी अर्थ (बुद्धि) में पहुंची हुई की तरह हुई उसकी वृत्ति के साथ गिरती है, उस बुद्धि वृत्ति को जब चैतन्य का रङ्ग चढ़ जाता है, तो उसके अनुकरणमात्र से बुद्धि वृत्ति से अभिन्न ज्ञान वृत्ति ऐसे कही जाती है ॥

भाष्य—अभिप्राय यह है, कि भोक्तृ शक्ति (आत्मा) केवल चिति शक्ति अर्थात् ज्ञानस्वरूप है। रूप का ज्ञान, शब्द का ज्ञान इत्यादि जो ज्ञान उत्पन्न होते हैं, और बदलते रहते हैं, यह आत्मा का स्वरूप नहीं, आत्मा अपरिणामी है। यह ज्ञान बुद्धि का परिणाम हैं, रूप ज्ञान के समय बुद्धि का एक परिणाम होता है, शब्द ज्ञान के समय दूसरा, यही वृत्तियां हैं। जब कोई नई वृत्ति उत्पन्न होती है, तो चितिशक्ति में न कोई परिणाम होता है, न चितिशक्ति बुद्धि में पहुंचती है, किन्तु परिणामी अर्थ जो बुद्धि है, उस में चैतन्य की झलक पड़ने से वह चेतन सी प्रतीत होती है, और चितिशक्ति उसमें प्रतीत होती है। यह बुद्धि वृत्ति ही ज्ञानकी वृत्ति कहलाती है। वह:

एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम् ।।९।।

अर्थ—एक ही दर्शन है, ख्याति (वृत्ति) ही दर्शन है ॥

भाष्य—अर्थात् बुद्धि और पुरुष को अलग २ न समझने के हेतु बुद्धि के धर्मों को आत्मा में आरोप कर लेता है। जैसे मैले दर्पण में मुख देखने से मुख में मलिनता आरोप कर लेता है, इसी तरह बुद्धि पुरुष में भेद न समझकर बुद्धि की वृत्तियों को पुरुष में आरोप करके 'मैं शान्त हूं, मैं दुःखित हूं, मैं मूढ हूं' ऐसा अनुभव करता है।

रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते ॥ १० ॥

अर्थ—रूपों के प्रधान और वृत्तियों के प्रधान परस्पर विरुद्ध होते हैं, पर सामान्य प्रधान के साथ प्रवृत्त होते हैं।

भाष्य—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य यह आठ बुद्धि के रूप हैं और शान्त, घोर, मूढ यह तीन वृत्तियां हैं। इन में से जब धर्म प्रधान होता है, तब अधर्म प्रधान नहीं होसक्ता। पर अप्रधानरूप से उस समय भी रह सक्ता है। इसी तरह जब शान्त वृत्ति प्रधान होती है, तो घोर प्रधान नहीं हो सक्ती, पर त्रिगुणात्मक चित्त में अप्रधानरूप से घोर वृत्ति शान्त वृत्ति के समय भी बनी रहती है। सो इस प्रकार प्रधानरूप का प्रधानरूप के साथ विरोध है। नकि रूप मात्र के साथ, इसीप्रकार प्रधानवृत्तिका प्रधानवृत्ति के साथ विरोध है, नकि वृत्तिमात्र के साथ॥

धर्मिणामनादिसंयोगात् धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोगः ॥ ११ ॥

अर्थ—धर्मियों के अनादि संयोग से धर्म मात्रों का भी अनादि संयोग है।

भाष्य—धर्मी जो गुण हैं, उनका आत्मा के साथ अनादि संयोग है, इसलिये गुणों के धर्म जो यह महत्व तत्त्व आदि हैं, उन के साथ भी आत्माओं का अनादि संयोग है। यद्यपि प्रति कल्प महत्तत्त्व आदि फिर से उत्पन्न होते हैं, तथापि प्रवाह से अनादि संयोग है।

संगति—चिति चित्त और वृत्तियों का वर्णन करके अज्ञान का वर्णन करते हैं :—

व्यक्तमव्यक्तं वा सत्वमात्मत्वेनाभि प्रतीत्य तस्य सम्पद मनुनन्दत्यात्म सम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनु शोचत्यात्म व्यापदं मन्यमानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः ॥१२॥

अर्थ—चेतन वा अचेतन वस्तु को आत्मा के तौर पर समझकर उसकी सम्पत्ति से आनन्दित होता है अपनी सम्पत्ति समझता हुआ, और उसकी विपत्ति से शोक में डूबता है अपनी विपत्ति समझता हुआ, ऐसा हर एक पुरुष मूढ है॥

भाष्य—यह अविद्या का स्वरूप दिखलाया है। पुरुष का आत्मा जैसे उसके कमाए धन आदि वा रहने के घर आदि से अलग है, ठीक इसी तरह वह इस शरीर से भी अलग है, इनके घटने बढ़ने मरने से आत्मा का कुछ नहीं घटता बढ़ता, तथापि अपने स्वरूप को न जानता हुआ वह इतना भूलता है, कि न केवल शरीर को ही आत्मा मानकर शरीर के सुख दुःख से सुखी दुःखी होता है, अपितु पुत्र पत्नी पशु आदि चेतन और धन धान्यादि अचेतन वस्तुओं में वह ऐसी ममता बांध लेता है, कि मानो वह उसका आत्मा हैं। अतएव उनकी सम्पदा देखकर अपने आपको सम्पदा

वाला मानता है. और उनकी विपदा देखकर अपने आपको विपदा वाला मानता है। पुत्र के मरने से कहता है, मैं मर गया। धन के क्षीण होनेसे कहता है, मैं क्षीण होगया। यह सब उसके लिये अपने आपको भूलने का फल है, वस्तुतः आत्मा न उनकी सम्पदा से सम्पन्न हुआ, न विपत्ति से विपन्न हुआ॥

संगति–इन सारी अविद्याओं का मूल बुद्धि और पुरुष का अविवेक हैं

बुद्धितः परं पुरुषमाकार शीलविद्यादि-भिर्विभक्तम पश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धिं मोहेन ॥ १३ ॥

अर्थ–बुद्धि से परे पुरुष को स्वरूप शील और विद्या आदि से अलग न देखता हुआ मोह (भूल) से उसमें आत्मबुद्धि कर लेता है

भाष्य–पुरुष का स्वरूप–शुद्ध, शील–उदासीनता और विद्या चेतनता हैं, इसके विपरीत बुद्धि त्रिगुणात्मक होने से अविशुद्ध, अनुदासीन और जड़ है। इन धर्मों से पुरुष बुद्धि से अलग है,तथापि उसे अलग न समझता हुआ भूल से बुद्धि को आत्मा समझ लेता है।

संगति–इस अविद्या के होने से प्रकाशशील भी बुद्धि की अधर्म में प्रवृत्ति दिखलाते हैं–

महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्वमावृत्य तदेवाकार्येनियुङ्क्ते ॥ १४ ॥

अर्थ–महामोह (राग) रूपी इन्द्र जाल से प्रकाशशील चित्त को ढांप कर उसी को अकार्य में लगाती है॥

संगति–अकार्यों में प्रवृत्त हुए पुरुषों की रुचियां ही मोक्ष के विरुद्ध होजाती हैं :–

स्वभावं मुक्त्वा येषां पूर्वपक्षे रुचिर्भवति अरुचिश्च निर्णये भवति ॥ १५ ॥

अर्थ—स्वभाव को छोड़कर जिनकी पूर्वपक्ष में रुचि होती है, और निर्णय में अरुचि होजाती है ॥

भाष्य—अकार्यों में लगे पुरुषों के चित्त का स्वभाव निर्णय करने का बदल जाता है, तब उनकी रुचि पूर्वपक्ष अर्थात् न परलोक है, न कोई परलोकी आत्मा है, इत्यादि में होजाती है, और पचीस तत्त्वों के निर्णय करने में अरुचि होजाती है ॥

संगति—पाप कर्म अपना स्वतन्त्र फल भी दुःख ही देता है, और पुण्य समूह के अन्तर्गत हुआ भी पुण्य फल में अपना दुःख फल देता ही है, यह दिखलाते हैं—

स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालं, कस्मात् कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति, यत्रायमावापं गतः स्वर्गे प्यपकर्ष मल्पं करिष्यति ॥१६॥

अर्थ—(पाप का) थोड़ा भी मेल हो, तो वह हटाना होगा, वा सहारना होगा, किन्तु पुण्य के फल के रोकने में वह समर्थ नहीं, क्योंकि, पुण्यवान् का और बहुत सा पुण्य है, जिसके अन्तर्गत हुआ यह स्वर्ग में भी थोड़ा सा घाटा देगा ही ॥

संगति—शुद्ध पुण्य कर्म किसी को पीड़ा न देकर सब की भलाई में रहना है, सत्य बोलना आदि जितने व्रत हैं, उनका भी यही तात्पर्य है, क्योंकि—

स यथा ब्राह्मणो व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानि-

दानेभ्यो निवर्तमान स्तामेवावदातरूपा महिंसा करोति ॥ १७ ॥

अर्थ—वह वेदवेत्ता जैसे २ बहुत से व्रतों को धारण करता है, तैसे २ प्रमाद कृत हिंसा के कारणों से हटता हुआ उसी अहिंसा को शुद्ध स्वरूप बनाता है ॥ जितना सचाई आदि में स्थित होता है, उतना ही वह दूसरों को धोखा देने वा हानि पहुंचाने से बचता है और उनकी भलाई करता है ॥

संगति—पर केवल शुद्ध धर्म में पाप का कोई लेश नहीं रहता।

ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते वाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्म मभिनिर्वर्तयन्ति ॥ १८ ॥

अर्थ—यह जो योगियों के मैत्री(करुणा)आदि काम वाह्यसाधनों की सहायता के विना होने वाले हैं, यह शुद्ध धर्म को उत्पन्न करते हैं

संगति—इस प्रकार शुद्ध धर्म में प्रवृत्त रहकर प्राणायाम से चित्त को शुद्ध करे, क्योंकि—

तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धि-र्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य ॥ १९ ॥

अर्थ—प्राणायाम से परे तप नहीं, उससे मलों की शुद्धि और ज्ञान का प्रकाश होता है ॥

संगति—उस ज्ञान के प्रकाश से—

तमणुमात्रमात्मान मनुविद्यास्मीत्येवं तावत् संप्रजानीते ॥ २० ॥

अर्थ—उस अणुमात्र आत्मा को ढूंढकर 'यह हूं' इस प्रकार ठीक २ जान लेता है। तब—

तत्संयोगहेतुविवर्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दुःख प्रतीकारः ॥ २१ ॥

अर्थ—बुद्धि के संयोग का हेतु (अविद्या) दूर होजाने से दुःख का इलाज सदा के लिये होजाता है ॥

पञ्चशिखाचार्य प्रणीत सांख्यसूत्र समाप्त हुए

सांख्यकारिका वा सांख्य सप्तति।

मानुष जीवन का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष यह चार [मानुष जीवन का उद्देश्य] पदार्थ हैं। इनमें से पहले तीन पदार्थ पुरुषार्थ कहलाते हैं, और चौथा परम पुरुषार्थ कहलाता है। इनमें से धर्म के प्रतिपादन के लिये धर्म शास्त्रों की प्रवृत्ति हुई है, एवं अर्थ के प्रतिपादन के लिये अर्थ शास्त्रों की, काम के प्रतिपादन के लिये काम शास्त्रों की और मोक्ष के प्रतिपादन के लिये मोक्ष शास्त्रों की प्रवृत्ति हुई है। यह सांख्यशास्त्र मोक्षशास्त्र है। सो सांख्याचार्यों का प्रतिपाद्य विषय वह है, जिस के ज्ञान से मोक्ष मिले, मानुष जीवन का परम उद्देश्य पूर्ण हो। यही लक्ष्य में रखकर पहले सांख्यशास्त्र का विषय जानने की इच्छा उत्पन्न कराते हैं:—

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातकेहेतौ।
दृष्टेसाऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥१॥

अर्थ—दुःख तीनों प्रकार का चोट लगाता है, इसलिये उसके नाश करनेवाले कारण की जिज्ञासा होती है। यदि (कहो, कि) दृष्ट

(कारण) के होते हुए वह (जिज्ञासा) व्यर्थ है, (तो) नहीं, क्योंकि (इससे दुःख का नाश) अवश्यमेव और सदा के लिये नहीं होता ॥

व्याख्या—सांख्यशास्त्र मनुष्य को वह उपाय बतलाता है, जिससे दुःख को ऐसा जड़ मूल से उखाड़ दें, कि फिर कभी उत्पन्न न हो। सो सांख्य शास्त्र के

सांख्यशास्त्रका विषय जानने की आवश्कता का प्रश्न

ज्ञान लाभ करने की तब आवश्यकता न हो, यदि (१) दुःख जगत् में विद्यमान न हो (२) वा हो, तो उस को उखाड़ना न चाहते हों (३) वा उखाड़ना चाहते हों, तो उखाड़ सकें न हों (४) वा उखाड़ सकें हों, तो सांख्य-शास्त्र के विषय का ज्ञान उसका उपाय न हो (५) अथवा इस से कोई सुगम उपाय और विद्यमान हो ॥

अब क्योंकि दुःख जगत् में है, और उसको उखाड़ना भी चाहते हैं, इसलिये कहा है—"क्योंकि दुःख तीनों प्रकार का चोट लगाता है, इसलिए उस के नाश करनेवाले कारण की जिज्ञासा (होती है)" ॥

इस प्रश्न के उत्तर में तीन ताप का वर्णन

दुःख तीन प्रकार के हैं—**आध्यात्मिक, आधिभौतिक** और **आधिदैविक**। इन में से आध्यात्मिक दुःख वह है जो अपने अन्दर से उत्पन्न होता है, वह दो प्रकार का है—शारीरिक और मानसिक। अन्दर के विकार से उत्पन्न हुए किसी रोग—ज्वर आदि वा फोड़ा फिनसी आदि से जो दुःख होता है, वह शारीरिक है। और मन के भाव अर्थात् काम क्रोध लोभ मोह भय, ईर्ष्या, असूया, चिन्ता, शोक आदि से जो दुःख होता है, वह मानस दुःख है। आधिभौतिक दुःख वह है, जो किसी भूत अर्थात् प्राणधारी से मिलता है, जैसे कुत्ते, सांप, बिच्छु, भिड मक्खी, मच्छर, खटमल आदि के काटने से, हिंस्र पशु, पक्षियों, के दांत पञ्जा, दोलत्ती वा चोंच आदि के मारने से, किसी जलचर मत्स्य,

मगर, ग्राह आदि के काटने फाड़ने से, किसी मनुष्य के मुक्का, डण्डा, तलवार आदि मारने से, किसी वृक्ष का टहना आदि गिरने से, वा कांटा चुभने से (पौदे भी प्राणधारियों में हैं) जो दुःख मिलता है, वह सब आधिभौतिक है। आधिदैविक जो सृष्टि की दिव्य शक्तियों से उत्पन्न होता है, जैसे अतिशीत, अतिघर्म, तीक्ष्ण वायु, अतिवृष्टि, बिजली का गिरना, पर्वतों का फटना, भूचाल का आना, इत्यादि २ से जो दुःख मिलता है, वह आधिदैविक है॥

सो यह दुःख जो हर एक से अनुभव किया जाता है, (१) इस

पहले दो प्रश्नों का उत्तर।

की सत्ता (हस्ती) से इन्कार हो नहीं सक्ता। (२) और क्योंकि दुःख चोट लगाता है, इसका सम्बन्ध असह्य होता है, इसलिये हरएक पुरुष इसको उखाड़ना चाहता है॥

अब प्रश्न यह है, कि दुःख उखाड़ा जा सक्ता है, वा नहीं?

तीसरे और चौथे प्रश्न का उत्तर।

इसका उत्तर यह है, कि उखाड़ा न जाना उस वस्तु का होता है, जो नित्य हो, अथवा उसके उखाड़ने का उपाय अज्ञात हो। अब दुःख यतः नित्य नहीं है. इसलिये उखाड़ा जाने के योग्य है, इसलिये इस के उखाड़ने वाले साधनकी जिज्ञासा होनी चाहिए (४) और जिज्ञासुओं की इस जिज्ञासा को यह शास्त्र पूरा करता है, इसलिये इसका जानना आवश्यक है, यह आशय है॥

इस पर आशंका करते हैं, कि "दृष्ट (प्रत्यक्ष कारण) के होते हुए वह

सुगम उपाय की विद्यमानता का प्रश्न

(जिज्ञासा) व्यर्थ है" इसका यह आशय है, कि अच्छा माना, कि जगत् में दुःख विद्यमान है, उस के उखाड़ने की इच्छा भी सब को है, उखाड़ा जा भी सक्ता है, और सांख्यशास्त्र उसके उखाड़ने का उपाय भी ठीक बतलाता है, तो भी सांख्यशास्त्र का विषय जानने की आवश्यकता नहीं,

जब कि सांख्योक्त उपाय की अपेक्षा समस्त दुःखों के दूर करने के एक नहीं, अनेक, सुगम उपाय विद्यमान हैं,उन की विद्यमानता में

अर्के चेन्मधुविन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्न माचरेत् ।

अर्थ—घर के कोणे में ही यदि शहद मिल जाए, तो किसलिए पर्वत पर जाए। जब अभीष्ट वस्तु मिल गई, तो फिर कौन बुद्धिमान् परिश्रम उठाए॥इस कहावत के अनुसार कौन विद्वान् सांख्य में कहे कठिन उपाय में प्रवृत्त हो। हैं सैंकड़ों आसान उपाय,जो शारीरिक दुःख के प्रतीकार (इलाज)के लिए योग्य वैद्यों ने उपदेश किये हैं। मानस सन्ताप के भी दूर करने के लिए मन भाती स्त्री मन भाता खान,पान वस्त्र भूषण घर आदि का प्राप्त करना आसान उपाय है,

इसका उत्तर देते हैं "नहीं, क्योंकि इन से दुःख का

इस प्रश्न का उत्तर] नाश अवश्य ही और सदा के लिए नहीं होता"। यह अभिप्राय है, कि निःसन्देह यह उपाय हैं, पर इनसे अवश्यमेव दुःख का नाश नहीं होता, बड़े २ योग्य वैद्य इकट्ठे मिलकर इलाज करते हैं, दवाइयां भी परखी हुई बर्तते हैं, पर रोगी को चंगा नहीं कर सक्ते। यही दशा मानस, आधिभौतिक आधिदैविक दुःखों के इलाजों में देखी जाती है। किञ्च इन उपायों से दुःख सदा के लिए दूर नहीं होजाता, किन्तु निवृत्त हो चुके दुःख की भी फिर उत्पत्ति देखते हैं। सो सुगम भी दृष्ट उपाय असली उपाय नहीं, हमें वह इलाज चाहिए, जो दुःख के मिटाने में चूक कभी न करे, और ऐसा जड़ से उखाड़े, कि सदा के लिए दुःख दूर होजाए। ऐसा उपाय सांख्यशास्त्र से ही जाना जाता है, इस लिये जिज्ञासा व्यर्थ नहीं॥

संगति—अच्छा मत हो दृष्ट उपाय,पर श्रौत कर्म तो ऐसा उपाय हैं,कि

प्रश्न जिनसे दुःख की निवृत्ति अवश्यमेव होती है, क्योंकि वह अपौरुषेय उपाय हैं, कभी चूकते नहीं, और वह निवृत्ति सदा के लिए होती है, जैसा कि कहा है :—"अपाम सोम ममृता अभूम"= हम ने सोम पिया है, अमृत होगए हैं (ऋग्० ८।४८।३)। सो इन श्रौत कर्म रूपी सुगम उपायों की विद्यमानता में फिर भी जिज्ञासा व्यर्थ ही है, उसका उत्तर देते हैं :—

दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धि क्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात् ॥२॥

अर्थ—दृष्ट के तुल्य ही श्रौत है, क्योंकि अशुद्धि, क्षय और अतिशय से युक्त है। विरुद्ध इसके वह अधिक अच्छा है जो व्यक्त अव्यक्त और चेतन के साक्षात् करने से होता है॥

व्याख्या—श्रौत कर्मकलाप भी दृष्ट के तुल्य ही है, क्योंकि वह अशुद्धि

दृष्ट और श्रौत उपाय की समता

क्षय और अतिशय से युक्त है, अशुद्धि शुभ कर्म में अशुभ के मेल से होती है। और यह मेल जीवन भर में कभी न कभी हो ही जाता है। वह भी अवश्य अपना फल देता है, अतएव सुख भोग में भी सभी को बीच २ में दुःख भोग मिलता ही रहता है। क्षय और अतिशय कर्म के फल में होते हैं, जैसे लौकिक कर्म खेती आदि का फ़ल क्षीण होजाता है। इसी तरह श्रौत का भी। फिर लौकिक कर्म की तरह श्रौतकर्म भी अतिशय से युक्त है। कर्म करने में एक से दूसरा दूसरे से तीसरा बढ़ जाता है, और उसके अनुसार ही फल में भी बढ़ जाता है। और दूसरे की सम्पत्ति का अधिक होना हीनसम्पदा वाले को दुःखी करता है। इस लिये श्रौतकर्म से भी दुःखमात्र का नाश और अत्यन्त नाश न होने से इस अंश में वह भी दृष्ट के तुल्य ही है, किन्तुः—

"इससे विपरीत हेतु अधिक अच्छा है" यह आशय है, दुःख

वैदिक ज्ञान की महिमा] दूर करने का वैदिक हेतु दो प्रकार का है, कर्म और ज्ञान । कर्म भी अच्छा है, और ज्ञान भी अच्छा है, पर इन दोनों में से ज्ञान अधिक अच्छा है । क्योंकि पहले में दुःख का पूरा इलाज नहीं होता, दूसरे में पूरा इलाज होजाता है ।

अब प्रश्न यह है, कि इसकी प्राप्ति कैसे होती है, इसका उत्तर

ज्ञान की प्राप्ति] देते हैं व्यक्त अव्यक्त और पुरुष के साक्षात् करने से, व्यक्त जो यह जगत् हमारे सामने है, अव्यक्त जो इसका मूल कारण प्रकृति है, और चेतन पुरुष इन तीनों को साक्षात् अलग २ जानने से इसकी प्राप्ति होती है । फिर दुःख अवश्य और अत्यन्त दूर होजाता है ।

जिस क्रम से यहां व्यक्त अव्यक्त और पुरुष कहे हैं, उसी

ज्ञान प्राप्ति का क्रम] क्रमसे उनका ज्ञान होता है । सब से पहले इस दृश्य जगत् को साक्षात् करते हैं, उसके पीछे इसकी मूल प्रकृति को, तदनन्तर इससारे जड़ जगत् से परे चेतन आत्मा को प्रकृति से अलग करके देखते हैं ।

संगति—इस प्रकार शास्त्र के आरम्भ का समाधान करके शास्त्र का आरम्भ करते हुए संक्षेप से उसका विषय बतलाते हैं:—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति विकृतयः सप्त ।
षोड़शकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः ॥३॥

अर्थ—मूल प्रकृति विकृति नहीं है, महत् आदि सात प्रकृति-विकृतियां हैं, सोलह विकृतियां ही हैं, पुरुष न प्रकृति है न विकृति है ॥

सांख्य में यह २५ तत्त्व माने गए हैं । प्रधान, महत्, अहङ्कार, पांच तन्मात्र,

सांख्य के माने हुए २५ तत्त्व] ग्यरह इन्द्रिय, पांच महाभूत और पुरुष ।

संक्षेप से इन २५ के चार भेद हैं । कोई पदार्थ केवल प्रकृति

इन २५के चार भेद] है, कोई प्रकृति विकृति दोनों है, कोई केवल विकृतिहै, कोई न प्रकृति है न विकृति है *।

इनमें से कौन प्रकृतिही है, इस से कहा है "मूल प्रकृति विकृति नहीं है" प्रकृति=कारणद्रव्य । देखने में आता है, कि कारणद्रव्य भी किसी का कार्य होता है, जैसे ईंटें भित्ति (दीवार)का कारणद्रव्य हैं और मट्टी का कार्य हैं। क्या इसी तरह सभी कारणद्रव्य अवश्यमेव किसी का कार्य भी होते हैं? उत्तर देते हैं—नहीं । जो मूल कारणद्रव्य है, वह किसी का कार्य नहीं । जो कारणद्रव्य किसी का कार्य है, वह मूल नहीं । मूल में कारणद्रव्य अवश्य ऐसा होना चाहिये, जो बनते २ इस रूप में आजाए । यदि उसका भी कोई और मूल मानो, तो उसका भी और,उस और का फिर और,इस प्रकार अनवस्था दोष आएगा। इस लिये कहा है मूल। मूल प्रकृति विकृति हो ही नहीं सक्ती, वह प्रकृति ही होती है, इसी लिये प्रकृतिशब्द प्रायः उसी के लिये बोलाजाता है, उसी को प्रधान अव्यक्त और माया भी कहते हैं।

कौन प्रकृति विकृति हैं, और कितनी हैं? इससे कहा है, "महत्

केवल प्रकृति

आदि सात प्रकृति विकृतियां हैं" महत्, अहंकार और पांच तन्मात्र यह सात प्रकृति विकृति हैं। महत् अहंकार की प्रकृति है और मूल प्रकृति की विकृति है इसी प्रकार अहंकार तन्मात्रों की और इन्द्रियों की प्रकृति और महत् की विकृति है, तथा पांच तन्मात्र पांच महाभूतों की प्रकृतियां और अहंकार की विकृतियां हैं ॥

प्रकृति विकृति

कौन केवल विकृतियां है, और कितनी हैं, इस से कहा है

* प्रकृति=कारणद्रव्य । विकृति=कार्यद्रव्य, जैसे मट्टी प्रकृति है घड़ा विकृति है । एवंसूत प्रकृति वस्त्र विकृति है ।

केवल विकृति] 'सोलह विकृतियां ही हैं' पांच महाभूत और ग्यारह इन्द्रिय यह सोलह विकृतियां ही हैं प्रकृतियां नहीं * ॥

पुरुष न प्रकृति है, न विकृति है। न वह किसी से बना है, न प्रकृति न विकृति] न उससे कुछ बनता है, । वह एक तत्व सदा एक रस रहता है॥

इन सब का युक्ति से उपपादन आगे होगा ॥

संगति–इस विषय को प्रामाणिक करने के लिये पहले प्रमाणों का निरूपण करते हैं :–

दृष्ट मनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाण मिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ ४ ॥

अर्थ–सारे प्रमाणों के (इन्हीं तीनों में) अन्तर्गत होने से दृष्ट, अनुमान और आप्त वचन यह त्रिविध प्रमाण अभीष्ट है । यतः प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से (होती) है ॥

सांख्याचार्यों को प्रमाण तीन ही प्रकार का अभिमत है । सांख्य के अभिमत तीन प्रमाण | क्योंकि तीन से अधिक प्रमाण जो दूसरे आचार्यों ने माने हैं, वह इन तीन के ही अन्तर्गत आजाते हैं, वह तीन यह हैं–दृष्ट, अनुमान, और आप्तवचन ॥

प्रमाण की आवश्यकता इसलिये है, कि प्रमेय की सिद्धि प्रमाण की आवश्यकता] प्रमाण से ही होती है ॥

---

* पृथिवी आदि महाभूतों से आगे भी वृक्ष आदि की उत्पत्ति होती है, उनको क्यों नहीं गिना ? इसलिए कि जैसे प्रकृतिसे महत्, महत् से अहङ्कार, अहंकार से पांच तन्मात्र, पांच तन्मात्र से पांच महाभूत नये तत्व बनते आए हैं, वैसे पृथिव्यादि से आगे वृक्षादि कोई अलग तत्व नहीं होते, जैसे पृथिवी स्थूल और इन्द्रियग्राह्य है, वैसे वृक्षादि हैं । इसलिये पृथिवी से अलग तत्त्व नहीं हैं । और नये तत्व का उत्पन्न करना ही यहां प्रकृतित्व से अभिप्राय है ॥

संगति-प्रमाणों के लक्षण कहते हैं :-

प्रति विषयाध्यवसायोदृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम् । तल्लिङ्ग लिङ्गि पूर्वकमाप्त श्रुतिराप्त वचनं तु ॥ ५ ॥

अर्थ—अलग २ विषय का निश्चय दृष्ट है, अनुमान तीन प्रकार है, वह लिङ्ग लिङ्गी के ज्ञान से होता है, आप्त का शब्द आप्त वचन है॥

[प्रत्यक्ष प्रमाण] प्रत्यक्ष प्रमाणों में बड़ा है, और अनुमान आदि उसके अधीन हैं और इसके मानने में किसी का झगड़ा नहीं, इसलिए प्रत्यक्ष का पहले लक्षण कहते हैं—"अलग २ विषय का निश्चय दृष्ट है=प्रत्यक्ष है" नेत्र से रूप का ही ग्रहण होता है, शब्द का नहीं, और श्रोत्र से शब्द का ही ग्रहण होता है रूप का नहीं, इस प्रकार जो एक२ इन्द्रिय से अलग२ विषय का निश्चय है, यह प्रत्यक्ष है। अनुमान और आप्तवचन में ऐसा नियम नहीं, अनुमान और आप्तवचन से रूप रस आदि सब का ज्ञान होता है। सो नेत्र से रूप का वा रूपवाली वस्तु का, त्वचा से स्पर्श का वा स्पर्शवाली वस्तु का, श्रोत्र से शब्द का, घ्राण से गन्ध का, रसना से रस का ज्ञान प्रत्यक्ष है, यह बाह्य प्रत्यक्ष है। मन से सुख दुःख आदि का, यह अभ्यन्तर प्रत्यक्ष है॥

[अनुमान प्रमाण] अनुमान लिङ्ग और लिङ्गी के ज्ञान से होता है। लिङ्ग=पक्का चिन्ह और लिङ्गी=ऐसे चिन्हवाला। धूम अग्नि का पक्का चिन्ह है, क्योंकि धूम अग्नि के विना कहीं नहीं होता, इसलिए धूम को देखकर अग्नि के विन देखे भी यह ज्ञान होजाता है, कि यहां अग्नि है। इसप्रकार चिन्ह को देखकर जो चिन्हवाले का ज्ञान होता है, वह अनुमान है॥

अनुमान तीनप्रकार का है—पूर्ववत, शेषवत और सामान्य

अनुमान के तीन भेद तोदृष्ट। पूर्ववत् वह है, जिसमें चिन्ह और चिन्हवाला दोनों उसी रूप में पहले इकट्ठे देखे हुए हों। जैसे धूम से अग्नि का अनुमान करने में धूम और अग्नि दोनों इकट्ठे पहले रसोई में देखे हुए हैं। सामान्यतोदृष्ट वह है, जो सामान्य रूप से देखा हुआ हो, पर विशेष रूप से देखा न हो, जैसे रूपादि ज्ञान से इन्द्रियों का अनुमान होता है। वह इसतरह कि हरएक क्रिया का कोई करण (साधन) होता है, जैसे काटना एक क्रिया है, उस का करण (साधन) कुल्हाड़ा है, इसीप्रकार रूप का जानना भी एक क्रिया है, उसका भी कोई करण अवश्य होना चाहिए, वह करण नेत्र है। इसप्रकार रूप ज्ञान से नेत्र का अनुमान होता है, इसीप्रकार दूसरे इन्द्रियों का भी। अब वहां जैसे अग्नि को पहले प्रत्यक्ष देखा हुआ था, वैसे यहां किसी इन्द्रिय को कभी पहले प्रत्यक्ष नहीं देखा है। (इन्द्रिय स्वयं अतीन्द्रिय हैं। जो आंख कान आदिक हम देखते है, वह इन्द्रियों का घर हैं, इन्द्रिय उनके अन्दर सूक्ष्म शक्तियां हैं, जो आंखों से कभी दिखलाई नहीं देतीं)। यद्यपि बहुत जगह पर क्रिया के करण को प्रत्यक्ष देखा हुआ है, जैसे काटने में कुल्हाड़े को, तथापि जैसा करण यहां है, वह कभी प्रत्यक्ष नहीं देखा। यहां करण इन्द्रिय जाति का है, इन्द्रिय कभी कोई प्रत्यक्ष नहीं देखा। यह पूर्ववत् से सामान्यतोदृष्ट का भेद है। शेषवत् वहां होता है, जहां किसी वस्तु का दूसरों से अलग करके समझाना अभीष्ट हो। जैसे पृथिवी जलादि से भिन्न है, क्योंकि गन्धवाली है, जो जलादि से भिन्न नहीं है, वह गन्धवाली नहीं है। यहां गन्ध गुण से पृथिवी का जलादि से भेद दिखलाना अभीष्ट है। इसको व्यतिरेकी भी कहते हैं। अनुमान के पहले दो भेद हैं। वीत और अवीत। विधायक अनुमान वीत है। निषेधक अवीत है। वीत के फिर दो भेद हैं, पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। और अवीत को शेषवत् कहते हैं।

"आप्त का शब्द आप्त वचन है", आप्त वह है जो यथार्थ

आप्त वचन-प्रमाण] जानता हो और सत्यवक्ता हो, उसका वाक्य आप्तवचन है, इसी का दूसरा नाम शब्द प्रमाण वा आगमप्रमाण है। इसमें मुख्य प्रमाण वेद है, क्योंकि वेद अपौरुषेय होने से सारे दोषों की शङ्का से निर्मुक्त है। वह दोष जिनसे कोई वचन मानने योग्य नहीं होता, यह हैं—भ्रम, प्रमाद, और विप्रलिप्सा आदि। कहने वाले को आप भुलेखा हो वा असावधानी से कुछ का कुछ कह रहा हो, वा जान बूझकर धोखा देना चाहता हो, वा इस में दूसरे का ही भला जान कर झूठ बोलता हो। यह दोष पुरुष में ही होसक्ते हैं, वेद अ-पौरुषेय है, इसलिये वेद में इन दोषों की शंका ही नहीं होसक्ती। वेद से उतरकर परलोक के विषय में तो ऋषि मुनियों के शास्त्र भी वेदानुकूल होने से ही प्रमाण होते हैं, किन्तु लोक के विषय में वह सभी प्रमाण होते हैं, जो यथार्थ जानने के पीछे सत्य कहे गए हों।

बच्चे को जन्मते ही पहले पहल प्रत्यक्ष होने लगता है, वह

प्रमाणों का क्रम] आंखों से देखता है, कानों से सुनता है, इत्यादि। इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाणों में जेठा है। प्रत्यक्ष के पीछे उसे अनुमान होने लगता है। थोड़े दिनों में ही पाओं की आहट से किसी का आना समझकर इधर उधर देखने लगता है, माता का हाथ लगने से माता को पहचान लेता है, और रोता २ चुप कर जाता है दोनों हाथ उसकी ओर करने से आने के लिये झुक पड़ता है, इत्यादि। अनुमान के पीछे उसे शब्दों की समझ आने लगती है। शब्दों का अर्थ समझने में वह अनुमान से काम लेता है, जब वह सुनता है, कि घर में एक ने जब दूसरे को कहा है कि 'रोटी ला' तो उस दूसरे ने एक काम किया है, तब वह यह समझता है, कि रोटी ला कहने से यह काम करके दिया जाता है। पर अभी तक वह रोटी

और ला के अलग२ अर्थ नहीं समझा। फिर जब बार २ रोटी और ला शब्दों को भिन्न २ वाक्यों में सुनता है ' रोटी ले जा, पानी ला' इत्यादि में, तो फिर रोटी और ला इन शब्दों का अलग २ अर्थ उसे विदित होजाता है। इसप्रकार उसे शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। सो प्रत्यक्ष तो सब से पहले होता है, और बिना किसी के सहारे के होता है। अनुमान प्रत्यक्ष से पीछे होता है, और प्रत्यक्ष का सहारा लेकर होता है, और शब्द अनुमान से भी पीछे होता है और अनुमान का सहारा लेकर होता है। इसीलिये पहले प्रत्यक्ष फिर अनुमान फिर शब्द कहा है॥

[तीनों प्रमाणों की आवश्यकता]

प्रत्यक्ष को माने बिना तो किसी का काम चलता ही नहीं, इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण से कोई भी इनकारी नहीं। पर अनुमान को चार्वाक प्रमाण नहीं मानता। उस से हम यह पूछते हैं, कि तुम जो कहते हो, ' अनुमान प्रमाण नहीं' यह किसके प्रति कहते हो। क्योंकि पुरुष चार प्रकार के होते हैं— अप्रतिपन्न, सन्दिग्ध, विपर्यस्त और प्रतिपन्न। अप्रतिपन्न=अज्ञान वाला, संदिग्ध=संशयवाला, विपर्यस्त=भ्रान्तिवाला, प्रतिपन्न=ठीक ठीक जाननेवाला। जो ठीक जानता है, वह तो जानता ही है, उसके लिए तो कुछ कहना ही नहीं होता। किन्तु अप्रतिपन्न, सन्दिग्ध और विपर्यस्त के लिए ही कहा जाता है, ताकि अप्रतिपन्न का अज्ञान मिटे, सन्दिग्ध का संशय मिटे, और विपर्यस्त का भ्रम दूर हो। अब यदि कहो कि हम भी इसी प्रयोजन के लिये इन्हीं तीनों के प्रति कहते हैं, कि ' अनुमान प्रमाण नहीं' तो हम पूछते हैं, कि तुमने उन का अज्ञान, संशय और भ्रम कैसे जाना, क्योंकि दूसरे का अज्ञान संशय और भ्रम कभी प्रत्यक्ष नहीं होता, और तुम प्रत्यक्ष से अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं मानते। दूसरे का अज्ञान, संशय और भ्रम

उसके वैसे वचन सुनकर अनुमान करना होगा, इसलिये 'अनुमान प्रमाण नहीं' ऐसा कहने के लिए ही तुम्हें, विना इच्छा के भी, अनुमान प्रमाण मानना पड़ेगा। शब्द प्रमाण की इसलिए आवश्यकता है, कि जहां अनुमान की भी पहुंच नहीं, वहां शब्द पहुंचाता है, जैसा कि यहां आगे (कारिका ६ में) कहेंगे॥

इन तीनों से अतिरिक्त जो और प्रमाण भी कई आचार्यों ने माने हैं वह इन्हीं तीन के अन्दर आजाते हैं। वह यह हैं—उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव, ऐतिह्य और सङ्केत। नाम नामी के सम्बन्ध का ज्ञान **उपमान** है। जैसे माषपर्णी ओषधि के न जाननेवाले पुरुष को वैद्य कहे, कि जंगल से माषपर्णी लेआओ। और पता यह दे, कि जैसे माष के पत्र होते हैं, वैसे उस के होते हैं, अब वह जंगल में जाकर जिस ओषधि के पत्र माष के पत्रों जैसे देखता है। उसका नाम माषपर्णी समझ लेता है। यहां उपमान को अलग प्रमाण माननेवाले का तो यह अभिप्राय है, कि यह नाम का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं। प्रत्यक्ष होता, तो हरएक देखनेवाले को होजाता। यह अनुमान भी नहीं, क्योंकि नाम एक अपना कल्पना किया हुआ संकेत है। नाम का नामी पर कोई निशान नहीं पड़ा हुआ होता, जिस से उसके नाम का अनुमान होजाए। शब्द प्रमाण भी नहीं, क्योंकि उस समय कोई उस ओषधि पर अंगुलि रखकर, वा उसकी ओर अंगुलि करके नहीं कह रहा, कि यह माषपर्णी है। इसलिए यह एक अलग प्रमाण है, जिससे यह जान लिया, कि इसका नाम माषपर्णी है, यही उपमान है। पर वस्तुतः यह उपमान अनुमान ही है। क्योंकि जो शब्द जिस वस्तु के लिये बोला जाता है। वह उसका नाम होता है। यह व्याप्ति उसने अनेक जगह देखी है। यहां भी माष जैसे पत्रोंवाली ओषधि के लिए माष-

(हाशिया: शेष प्रमाणों का तीनों में अन्तर्भाव)

पर्णी शब्द बोला गया था, इसलिए इस ओषधि का नाम माषपर्णी है, वह ऐसा अनुमान से जान लेता है। **अर्थापत्ति**=जो बात अर्थ से निकल आए। जैसे किसी ने कहा 'हृष्ट पुष्ट देवदत्त दिन को नहीं खाता है, यहां 'अर्थात् रात को खाता है' यह अपने आप ज्ञात होजाता है। यह अर्थापत्ति का विषय है। इसीप्रकार देवदत्त के घर जाकर यदि उसे बुलाएं, और उत्तर मिले, कि 'घर नहीं है' तो यहां 'अर्थात् बाहर है' यह अपने आप ज्ञात होजाता है। इसको अलग प्रमाण माननेवाले का अभिप्राय यह है, कि यहां अनुमान करने का अवसर ही नहीं आता, और बात सिद्ध होजाती है, इसलिए यह अनुमान के अन्तर्गत नहीं, स्वतन्त्र प्रमाण है। पर वस्तुतः यह अनुमान ही है। क्योंकि हृष्ट पुष्ट होना आहार का चिन्ह है, और जीते पुरुष का घर में न होना बाहर होने का चिन्ह है। इसलिए इन चिन्हों से अनुमान होता है। किन्तु ऐसी बातें हमारी इतनी अभ्यस्त होचुकी हैं, कि संशय उत्पन्न नहीं होता बड़ी जल्दी अनुमान होता है, इतनी जल्दी कि पता ही नहीं लगता अनुमान होगया, पर हुआ अनुमान ही है, क्योंकि चिन्ह से चिन्ह वाले का ज्ञान हुआ है। सो अर्थापत्ति अनुमान ही है। **संभव** है अवश्य होना। जैसे किसी ने पूछा, कि रामशरण लाखों रुपयों का मालिक होगा, इसके उत्तर में दूसरे ने कहा, रामशरण करोड़ों रुपयों का मालिक है। यहां लाखों का मालिक अवश्य है यह अपने आप ज्ञात होगया। यहां भी अलग माननेवाले का अभिप्राय यही है कि बिना अनुमान के ऐसा ज्ञान होगया। पर वस्तुतः यहां भी बहुत जल्दी अनुमान ही हुआ है। **अभाव** जैसे यहां वस्त्र नहीं है। यह ज्ञान अभाव प्रमाण से होता है। पर वस्तुतः यह प्रत्यक्ष है

है। जिस वस्तु का ज्ञान जिस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है उसका अभाव भी उससे प्रत्यक्ष होजाता है। सो यह प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है। **ऐतिह्य** जो परम्परा से कहते चले आते है, जैसे गौतम के पाओं में नेत्र था ऐसी बातें प्रमाण नहीं होतीं, क्योंकि उनके कहनेवाले का निश्चय न होने से यह ज्ञान संशय वाला होजाता है, और यदि कहनेवाले का आप्त होना निश्चय होजाए तो आप्तवचन प्रमाण के ही अन्तर्गत है। **संकेत** अपने नियत इशारों से मनुष्य अपने अभिप्रायों को एक दूसरे पर प्रकट करते हैं, यह संकेत प्रमाण है। यह भी अनुमान के ही अन्दर आजाता है, क्योंकि संकेत एक नियत किया हुआ चिन्ह है उस अभिप्राय के जानने का। सो इसप्रकार तीन ही प्रमाण हैं, यही युक्ति युक्त है॥

संगति-इसप्रकार त्रिविध प्रमाण कहकर अब किस २ प्रमाण से किस २ की सिद्धि होती है, यह बतलाते हैं :—

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥६॥

अर्थ—अतीन्द्रिय (पदार्थों) की सिद्धि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होती है, और (जो) उस से भी असिद्ध (है, ऐसा) परोक्ष आप्तवचन से सिद्ध होता है * ॥

जो पदार्थ इन्द्रियों का विषय हैं, वा होते हैं। उनका ज्ञान तो [परोक्ष पदार्थों का ज्ञान] इन्द्रियों से वा पूर्ववत् अनुमान से गंवारों को भी यथार्थ होता है। एक गंवार भी विद्वान् की तरह इन्द्रियों

* अथवा सामान्य की अर्थात् इन्द्रिय योग्य जो कुछ है अपेक्षित वा अनपेक्षित (जरूरी वा न जरूरी) उस सब की सिद्धि तो दृष्ट (=प्रत्यक्ष) से होती है, अतीन्द्रियों की अनुमान से, अनुमान से भी जो असिद्धिपरोक्ष है, वह आप्त वचन से सिद्ध होता है।

से प्रत्यक्ष जानता है, और धूम देखकर पूर्ववत् अनुमान से अग्नि का अनुमान भी करता है, इनके प्रतिपादन के लिए शास्त्र प्रवृत्त नहीं हुआ, किन्तु अतीन्द्रिय पदार्थों का साधन शास्त्र का काम है। सो अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होती है, जैसा कि पूर्व इन्द्रियों की सिद्धि में दिखला आए हैं और प्रधान पुरुषादि की सिद्धि में आगे दिखलाएगें। और जहां सामान्यतो दृष्ट अनुमान की भी पहुंच नहीं, जैसे मरने के पीछे कर्मी चन्द्रलोक को जाते हैं, और उपासक सूर्य लोक को, इत्यादि की सिद्धि आप्तवचन (वेद) से ही होती है।

संगति-(प्रश्न) जैसे आकाश का फूल, कछुए के रोम, गदहे के सींग इत्यादि में प्रत्यक्ष की अप्रवृत्ति उनका अभाव निश्चय कराती है, इसी प्रकार प्रधानादि में भी प्रत्यक्ष की अप्रवृत्ति है। तब कैसे उनकी सामान्यतोदृष्टादि से सिद्धि मानीजाए, इस पर कहते हैं।

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रिय घातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ।७।

अर्थ—अतिदूर से, अति समीप से, इन्द्रिय के मारा जाने से, मनकी घबराहट से, सूक्ष्मपने से, आड़ से, दबजाने से, और एक रूप होजाने से (अनुपलब्धि होती है)।

विद्यमान भी वस्तु इन आठ हेतुओं से नहीं दीखती है। अतिदूर से, जैसे आकाश में बहुत ऊंचा उड़ताहुआ पक्षी वा देशान्तर में गए हुए चैत्र मैत्रादि।

विद्यमान के न दीखने के हेतु

अतिसमीप से, जैसे आंख का काजल, इन्द्रिय के मारा जाने से, जैसे बहरे को शब्द अन्धे को रूप। मन की घबराहट से, जैसे घबराया हुआ चोर अल्प मूल्य वस्तु को उठा लेजाता है, और उसके पास ही पड़ी बहुमूल्य वस्तु को छोड़जाता है, वा कामादि से

व्याकुल चित्तवाला बड़े प्रकाश में स्थित भी आंख के सामने भी वस्तु को नहीं देखता है। सूक्ष्मपने से जैसे आकाश में विद्यमान ही धूम भाप और कुहर के अणु नहीं दीखते हैं। आड़ से, जैसे दीवार से वा ढकने से ढकी वस्तु नहीं दीखती है। दब जाने से, जैसे दिन को सूर्य के तेज से मात हुए ग्रह नक्षत्र और तारे नहीं दीखते हैं। एकरूप होजाने से, जैसे मेघ से गिरीं जल की बूंदें जलाशय में नहीं दीखती हैं॥

यह अभिप्राय है, कि प्रत्यक्ष न होने मात्र से वस्तु का अभाव नहीं होता, ऐसा होने में तो घर से बाहर निकला पुरुष घर के लोगों को न देखता हुआ उनका अभाव निश्चय कर लेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता। अपितु प्रत्यक्ष के योग्य का प्रत्यक्ष न होने से उसका अभाव निश्चय होता है, और प्रधानादि प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है, इसलिये प्रत्यक्ष न होने मात्र से अनुमान सिद्ध प्रधान का अभाव कैसे हो?

संगति—अच्छा प्रधानादि के प्रत्यक्ष होने में इन आठों में से कौन रुकावट है और प्रत्यक्ष न होने पर भी किसतरह उनका सद्भाव (होना) प्रतीत होता है इसका उत्तर देते हैं:—

सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च॥ ८॥

अर्थ—सूक्ष्मता से उसका अप्रत्यक्ष है, अभाव से नहीं, क्योंकि कार्य से उसका ज्ञान होता है, वह कार्य महत् आदि है, जो प्रकृति के समानरूप भी है और विरूप भी है।

जैसे आकाश में धूम भाप और कुहर के अणु होते हुए भी

प्रधान का ज्ञान

सूक्ष्म होने से उपलब्ध नहीं होते, वैसे प्रधान

* भी (उनसे भी) अतिसूक्ष्म होने से उपलब्ध नहीं होती, न कि अभाव से, क्योंकि उसके कार्य को देखकर कारण का अनुमान होता है—कि है प्रधान, जिसका यह कार्य है। महत् अहंकार पांच-तन्मात्र ग्यारह इन्द्रिय स्थूल भूत और यह सारा दृश्यमान भौतिक जगत् सब उसी का कार्य है †। वह कार्य अपनी प्रकृति अर्थात् कारणद्रव्य (Material Cause) के समानरूप भी है ‡ और विरूप (असदृश) भी है, जैसे पुत्र पिता के तुल्य भी होता है और अतुल्य भी।

संगति—अच्छा यदि ऐसा मानलें, कि यह जगत् पहले कुछ नहीं था, फिर अपने आप उत्पन्न होगया, वा ईश्वर की आज्ञा से उत्पन्न होगया, इस प्रकार अभाव से उत्पन्न हुआ मानलें अथवा यही मानलें, कि यह सारा जगत् भ्रान्तिमात्र केवल स्वप्न है, वस्तुतः है ही नहीं, इन दोनों मतों में प्रधान की जरूरत नहीं रहती, तो फिर क्यों न ऐसा ही मान लिया जाए, इसके उत्तर में कार्य कारण का तत्त्व समझाते हैं :—

असदकरणादुपादान ग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात ।
शक्तस्य शक्य करणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।९।

अर्थ—असत् के न बनने से, उपादान के ग्रहण से, सब से उत्पन्न न होने से, शक्त के शक्य को करने से, और कारणात्मक होने से कार्य सत् है।

युक्ति और अनुभव से यह सिद्ध है, कि अभाव से भाव और भाव से

सत्कार्यवाद | अभाव नहीं होता। जो द्रव्य (Matter) जगत् में विद्यमान

* यहां प्रधान की उपलब्धि का विचार है, पुरुष की उपलब्धि में हेतु आगे (१७) कहेंगे † जैसे इसकार्य से प्रधान का अनुमान होता है वह, आगे (१६) कहेंगे ‡ यह सरूपता विरूपता आगे (१०,११ में) दिखलाएंगे ॥

है,वह सदा से है और सदा रहेगा, और जो नहीं है, वह सदा से ही नहीं है और आगे भी कभी नहीं होगा। नई नई वस्तुएं जो जगत् में उत्पन्न होती रहती हैं, और उत्पन्न हुई हुई नष्ट होती रहती हैं। उन में द्रव्य न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है, केवल उस द्रव्य का सन्निवेश (तरतीब) बदलजाता है। सन्निवेश के बदलने का नाम ही उत्पत्ति और विनाश है। जैसे मट्टी एक द्रव्य है। वह पहले गोलाकार है। वह मट्टी का एक आकार है। जब कुम्हार उससे घड़ा बनाता है, तो वह उस मट्टी को एक दूसरे आकार में बदल देता है। अब वह मट्टी गोला नहीं रही, घड़ा बनगई है। यही गोले का नाश और घड़े की उत्पत्ति है, वस्तुतः न कुछ आया है, न गया है। वही मट्टी जो पहले एक आकार में थी, अब दूसरे आकार में है, मट्टी ज्यों की त्यों है, केवल सन्निवेश बदल गया है। यह ऐसे ही है, जैसे एक चादर को लपेटकर गोला बनादें, तो वह उसका एक आकार है, चौरस बिछादें, तो वह दूसरा आकार है। पर चादर वही एक है। इसी तरह मट्टी को गोल लपेटकर गोला बनालो, थाल की तरह फैलाकर थाल लनालो, वा घड़े की तरह पेटग्रीवा और मुंह बनाकर घड़ा बनालो। निःसंदेह गोले के आकार से थाल और घड़े का आकार भिन्न है, पर मट्टी जो गोले की है; वही घड़े की है। जैसे खड़ा हुआ देवदत्त और बैठा हुआ देवदत्त दो नहीं होते, इसी तरह गोल हुई मट्टी और घटाकार हुई मट्टी दो नहीं। यही कार्य कारण का अभेद है। इससे यह परिणाम निकलता है, कि जो वस्तु हम उत्पन्न हुई कहते हैं, वह कोई नई उत्पन्न नहीं हुई, अपितु वह अपने कारण के आकार में पहले ही विद्यमान थी, केवल प्रकट हुई है। जिस तरह एक पत्थर को छील छालकर उसमें से एक मूर्ति बनाई जाती है,

वह मूर्ति उसमें पहले ही विद्यमान थी, किन्तु प्रकट न थी, छीलने वाले ने इसको प्रकटकर दिया है । इसी तरह मट्टी में घड़ा पहले ही विद्यमान था, केवल प्रकट न था, कुम्हार ने उसे प्रकटकरादिया है। गौ के थनों में दूध पहले ही था, गवाले ने दोहकर प्रकटकर दिया है। तिलों में तेल पहले ही था, तेली ने पीलकर प्रकट कर दिया है। अतएव कार्य सत् है अर्थात् पहले ही अपने कारण में विद्यमान है । क्योंकि :—

अभाव की उत्पत्ति नहीं होती, सहस्रों शिल्पियों से भी नील [सत्काय वाद में युक्तियें] पीला नहीं होसक्ता (२) किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिये लोग उसके नियत उपादान को ग्रहण करते हैं। तेल को उत्पन्न करना चाहता हुआ पुरुष तिलों को ही ग्रहण करता है, नाकि रेत को, दही बनाना चाहता हुआ दूधको ही ग्रहण करता है, न कि जल को। इसके यह अर्थ हैं, कि तिलों में तेल है, रेत में नहीं, दूध में दही है, जल में नहीं । अतएव उसने तेल न होता हुआ उत्पन्न नहीं किया, होता हुआ ही प्रकट किया है, जो छिपा हुआ था। (३) किञ्च—यदि कार्य अपने कारण में पहले ही विद्यमान न होता, अर्थात् पहले उसमें न होता हुआ उससे निकल आता, तो सब से सब की उत्पत्ति होजाती। क्योंकि उत्पत्ति से यदि पहले तेल का तिलों में अभाव है, तो जैसा तिलों में अभाव है, वैसा रेत में है, फिर तिलों में उत्पन्न होने की तरह रेत से भी उत्पन्न होजाए, और न केवल रेत से ही किन्तु हरएक से उत्पन्न होसके, और न केवल तेल ही, किन्तु सभी कुछ उत्पन्न होसके । पर सब से सब की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु नियत कारण से नियत कार्य की ही उत्पत्ति होती है, इसलिए कार्य सत् है। (४) किञ्च. जो जिस वस्तु को उत्पन्न करने की शक्ति रखता है, उससे वही उत्पन्न हो सकनेवाली

वस्तु उत्पन्न होती है। अब वह कारण में उत्पन्न करने की शक्ति क्या है, यही, कि वह कार्य उसके अन्दर अप्रकट अवस्था में छिपा हुआ विद्यमान है। सो शक्ति इससे अतिरिक्त और कुछ नहीं कही जासक्ती। अतएव इससे सिद्ध होता है, कि कार्य सत् है (५)किञ्च कार्य कारणात्मक ही होता है । जो रङ्ग सूत का, वही रङ्ग कपड़े का, जो तोल सूत का, वही तोल कपड़े का। सो कार्य यतः कोई अलग वस्तु नहीं, कारण की ही अवस्था विशेष है, अतः कार्य पहले ही सत् है। सो यह जगत् जो कार्य है, इसका मूल द्रव्य अवश्य होना चाहिए, क्योंकि कार्य अपने मूल द्रव्य की ही एक अवस्था विशेष होता है। अतएव इस कार्य जगत् का मूल द्रव्य अवश्य है। वही प्रधान है। सृष्टि के विषय में यह सिद्धान्त है, "नसत आत्मलाभो न सत आत्महानम्" न असत् का स्वरूप लाभ होता है, न सत् का स्वरूप हान होता है। इसलिये यह जगत् अभाव से उत्पन्न नहीं हुआ। और न ही इस को भ्रान्ति-मात्र कह सक्ते हैं, जब कि जगत् के प्रत्यक्ष का कभी बाध नहीं होता

संगति—सो इसप्रकार प्रधान के साधन के अनुकूल सत्कार्य का उपपादन करके कार्य को जो प्रकृति के सरूप और विरूप कहा है (८ में)। उसका उपपादन करते हैं:—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥१०॥

अर्थ—कारणवाला, अनित्य, अव्यापि, क्रियावाला, अनेक, आश्रित, चिन्ह, सावयव, पराधीन व्यक्त है, इससे उलट अव्यक्त है।

व्यक्त और अव्यक्त के विरुद्ध धर्म

महत् से लेकर जितना कार्य जगत् है, वह सब व्यक्त है, और मूल प्रकृति अव्यक्त है। इनमें से व्यक्त कारणवाला है। जिसका जो कारण है, वह आगे (२२ में) कहेंगे।

अनित्य है—छिप जानेवाला है, जो नाम कार्य है, थोड़ा वा बहुत चिर प्रकट रहकर फिर छिप जाता है। अव्यापी है, व्यापक नहीं, हर एक व्यक्त पदार्थ अपनी सीमा रखता है। क्रियावाला है, पृथिवी आदि घूमते रहते हैं, और बुद्धि आदि एक शरीर को छोड़कर दूसरे में जाते हैं। अनेक है। इस अथाह सृष्टि में अनेकानेक ब्रह्माण्ड हैं, और एक२ ब्रह्माण्ड में अनेकानेक बुद्धि अहङ्कारादि हैं। आश्रित है, जैसे कपड़ा सूत के सहारे स्थित होता है, इसी प्रकार सभी जगत् प्रकृति के सहारे स्थित है। चिन्ह है, यह सारा जगत् कार्य होने से अपने कारण का चिन्ह है, कारण को अनुमान कराता है। सावयव है, अवयवों वाला है, क्योंकि हरएक वस्तु की उत्पत्ति अवयवों के संयोग से होती है, इसलिए उत्पत्ति वाली हरएक वस्तु सावयव होती है। पराधीन है, बुद्धि अपने कार्य अहङ्कार को उत्पन्न करने के लिये पीछे से प्रकृति से अपने पूरे जाने की अपेक्षा रखती है, अन्यथा क्षीण हुई अहङ्कार को उत्पन्न न कर सके, इसीप्रकार अहङ्कारादि भी अपने कार्य में प्रकृति से पूरे जाने की अपेक्षा रखते हैं, सो इस प्रकार सभी जगत् अपने काम में प्रकृति की अपेक्षा रखता हुआ पराधीन है। यह सब व्यक्त के धर्म हैं इस से उलट अव्यक्त है, अर्थात् अव्यक्त का कोई कारण नहीं, वह नित्य है, व्यापक है सारे भरपूर है, सर्वत्र सब कुछ उसी से बन रहा है। क्रियावाला अर्थात् एक स्थान को छोड़कर दूसरे में जाने वाला नहीं है, क्योंकि वह पहले ही सारे भरपूर है। एक है। किसी के आश्रित नहीं। किसी का चिन्ह नहीं। निरवयव है। स्वाधीन है।

संगति—इसप्रकार व्यक्त और अव्यक्त की विरूपता कही अब इन दोनों की आपस में सरूपता और पुरुष से विरूपता दिखलाते हैं:—

त्रिगुणमविवेकिविषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।

व्यक्तं तथाप्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥

अर्थ–तीनगुणों वाला, अविवेकि, विषय, सांझा अचेतन, बदलने के स्वभाव वाला व्यक्त और प्रधान है और पुरुष इनसे उलट भी है और ऐसा भी है ।

व्यक्त और प्रधान इन धर्मों में एक जैसे हैं–तीन गुणों वाले [व्यक्त और प्रधान की सरूपता] हैं । सत्त्व, रजस् और तमस् यह तीन गुण ही सारे कार्य जगत् में हैं और यही तीनों प्रधान में हैं। अविवेकि=अलग न होनेवाला अर्थात् मिलकर काम करनेवाला । तीनों गुण जो व्यक्त और अव्यक्त का स्वरूप हैं, वह तीनों मिल कर काम करते हैं, कभी अलग नहीं होते ? अकेले से किसी वस्तु की किसी प्रकार उत्पत्ति नहीं होसक्ती । विषय है, भोग्य है, अतएव सब का सांझा है, सभी आत्मा इसको भोग रहे हैं । अचेतन है, प्रधान बुद्धि आदि सभी अचेतन हैं । बदलने के स्वभाव वाला है । प्रधान और उसका कार्य सदा परिणाम शील हैं । वह परिणाम दो प्रकार का होता है–सरूप परिणाम और विरूप परिणाम । दूध जब तक दूध है, तब भी दूध के अणु स्थिर नहीं होते, चलते रहते हैं, इसलिए दूध में परिणाम होरहा है, पर इस परिणाम में दूधदूध ही बना रहता है, इसलिए इस को सरूप परिणाम कहते हैं । जब दूध दही बनजाता है, तो उसे विरूप परिणाम कहते हैं । इसी तरह प्रधान में प्रलयकाल में भी सरूप परिणाम होता रहता है । क्योंकि गुणों का स्वभाव चलते रहना है । सो गुण प्रलय में भी चलते रहते हैं । पर जब तक उस चलने से सरूप परिणाम ही होता रहता है, तब तक प्रलय रहता है, जब विरूप परिणाम होता है, तो सृष्टि उत्पन्न होती है । यह छः धर्म व्यक्त और अव्यक्त के सांझे हैं ॥

'पुरुष इनसे उलट भी है,और ऐसा भी है' । प्रधान और व्यक्त [पुरुष के धर्म्म] तीनों गुणोंवाले हैं, पुरुष गुण रहित है। यह परस्पर मिले रहते हैं, पुरुष इनसे अलग है। यह भोग्य हैं, पुरुष भोग्य नहीं, भोक्ता है। यह पुरुषों के लिये हैं, पुरुष किसी के लिये नहीं है। यह अचेतन हैं, पुरुष चेतन है। यह परिणाम शील हैं, पुरुष अपरिणामी है। इन धर्मों में तो पुरुष इनसे उलटा है, पर जो पूर्व कारिका १.० में धर्म कहे हैं, उनमें पुरुष इन दोनों में से किसी एक के सदृश होता है, जैसे प्रधान का कोई कारण नहीं, पुरुष का भी कोई कारण नहीं। प्रधान नित्य है, पुरुष भी नित्य है। प्रधान किसी के सहारे नहीं, पुरुष भी किसी के सहारे नहीं। प्रधान भी किसी का चिन्ह नहीं, पुरुष भी किसी का चिन्ह नहीं। प्रधान निरवयव है, पुरुष भी निरवयव है। प्रधान स्वाधीन है,पुरुष भी स्वाधीन है। इन धर्मों में पुरुष प्रधान के सदृश है और व्यक्त के उलट है। किन्तु व्यक्त अनेक हैं, पुरुष भी अनेक हैं, इसमें वह व्यक्त के सदृश है और प्रधान के असदृश है ॥

संगति—पूर्व जो व्यक्त और अव्यक्त को तीन गुणों वाला कहा है, वह गुण कौन से हैं, और उनके लक्षण क्या हैं ?

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्चगुणाः ।

अर्थ—गुण सुख दुःख मोह स्वरूप हैं, प्रकाश प्रवृत्ति और रोकने के समर्थ वाले हैं, एक दूसरे को दबाने, सहारा देने, प्रकट करने, और साथ रहने के कर्म वाले हैं ॥

गुणों के नाम अगली कारिका में सत्त्व, रजस्, तमस् कहेंगे, [गुणों का स्वरूप] उसी क्रम से यहां उनके स्वरूपादि कहे हैं ।

सत्त्वगुण सुखस्वरूप है, रजोगुण दुःख स्वरूप है, और तमोगुण मोह स्वरूप है ॥

[गुणों का सामर्थ्य] स्वरूप कहकर सामर्थ्य कहते हैं—सत्त्व प्रकाश करने के समर्थ है, रजस् प्रवृत्त करने के (काम में लगाने के) और तमस् रोकने (ठहराने) के समर्थ है ॥

[गुणों का काम] सामर्थ्य कहकर काम कहते हैं—गुण एक दूसरे को दबाते हैं, जब सत्त्वगुण उत्कृष्ट होता है, तो रजस् तमस् को दबाकर सुख प्रकाश आदि अपने धर्मों से शान्त वृत्ति को उत्पन्न करता है। इसीप्रकार रजस् उत्कट हुआ सत्त्व तमस् को दबाकर दुःख प्रवृत्ति आदि से घोर वृत्ति को उत्पन्न करता है, और तमस् उत्कट हुआ सत्त्व रजस् को दबाकर सुस्ती आदि से मूढ वृत्ति को उत्पन्न करता है। तथा 'एक दूसरे का आश्रय हैं, सहारा हैं'। सत्त्व दूसरे दोनों के सहारे पर प्रकाश को प्रकट करता है, और प्रकाश द्वारा रजस् तमस् का उपकार भी करता है, इसीप्रकार रजस् तमस् भी दूसरों का सहारा लेते हैं, और उपकार भी करते हैं। 'एक दूसरे को प्रकट करते हैं'। स्थित वस्तु क्रियावाली और क्रियावाली प्रकाशवाली होजाती है, इसप्रकार तमस् रजस् को और रजस् सत्त्व को प्रकट करता है। 'एक दूसरे के साथ रहते हैं', कभी अलग २ नहीं होते, जैसा कि कहा है—"अन्योऽन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः। रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः ॥ तमसश्चापि मिथुने ते सत्त्वरजसी उभे। उभयोः सत्त्व रजसोर्मिथुनं तम उच्यते ॥ नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते"= सब एक दूसरे के जोड़े हैं, सब सर्वत्र हैं। रजस् का जोड़ा सत्त्व है, सत्त्व का रजस् है, तमस् के दोनों सत्त्व रजस् जोड़े हैं, और दोनों

सत्त्व रजस् का तम जोड़ा है, इनका कोई सब से पहला संयोग उपलब्ध नहीं होता है, न कभी वियोग उपलब्ध होता है ॥

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥

अर्थ—सत्त्व हलका और प्रकाशक माना गया है, रजस् उत्तेजक और चल, और तम भारी और रोकने वाला है । और दीपक की तरह (एक) उद्देश्य से इनका काम है ॥

सत्त्व हलका और प्रकाशक सांख्याचार्यों के अभिमत है । [गुणों के धर्म] सत्त्वप्रधान पदार्थ हलके होते हैं, इस हलकेपन से अग्नि ऊपर को जलती है वायु तिरछी बहती है, और इन्द्रियां शीघ्रता से काम करती हैं,(भारी होतीं तो काम करने में बड़ी मन्द होतीं) किञ्च सत्त्व प्रधान पदार्थ प्रकाशक होते हैं । सत्व की प्रधानता से अग्नि में प्रकाश है, इन्द्रियों में प्रकाश है, मन में प्रकाश है । शरीर में जब सत्त्व उत्कट होता है, तो अङ्ग हलके होते हैं, इन्द्रियों की प्रसन्नता होती है, बुद्धि का प्रकाश होता है । सत्त्व और तमस् स्वयं अक्रिय हैं, इसलिए अपना २ काम करने में असमर्थ हैं । रजस् क्रियावाला होने से उनको उत्तेजना देता है, अपने अपने काम में प्रयत्न करा देता है, इसलिये कहा है रजस् उत्तेजक और चल है । जब शरीर में रजस् उत्कट होता है, तो उत्तेजना और चञ्चलता बढ़जाती है । रजस् चल होने से हलके सत्त्व को सदा प्रवृत्त रक्खे, पर भारी और रोकनेवाले तमस् से रोका हुआ कहीं ही प्रवृत्त करता है, इसलिए रजस् की उत्तेजना को रोकनेवाला होने से तमस् भारी और रोकनेवाला कहा है । जब शरीरमें तमस् उत्कट होता है,तो शरीर भारी होता है,और इन्द्रिय जल्दी से काम नहीं करते

सत्त्व हलका है तो तमस् भारी है। तमस् स्थित करता है,

विरोधी भी गुणों का एक उद्देश्य

तो रजस् उत्तेजित करता है। इसप्रकार यह तीनों गुण परस्पर विरुद्ध हैं। जब यह विरुद्ध हैं, तो एक दूसरे को परे हटाएंगे, न कि मिलकर काम करेंगे, इसका उत्तर देते हैं—'दीपक की तरह एक प्रयोजन से इनकी प्रवृत्ति है'। जैसे बत्ती और तेल अग्नि के विरोधी हैं, पर वह दोनों अग्नि के साथ मिले हुए प्रकाश देते हैं, अथवा जिसतरह वात पित्त और कफ परस्पर विरोधी भी शरीर का धारण पोषण रूप एक कार्य करते हैं। इसीप्रकार सत्त्व, रजस्, तमस् परस्पर विरुद्ध भी एक दूसरे के अनुकूल वर्तेंगे और एक कार्य करेंगे॥

हरएक पदार्थ यतः सुख दुःख मोह का उत्पादक है, इससे

हरएक पदार्थ में तीनों गुणों की स्थिति

सिद्ध होता है। कि इसमें सुख दुःख और मोह के उत्पन्न करनेवाला तीन प्रकार का द्रव्य विद्यमान है। जैसे एक महार्ह मन्दिर को देखकर उसके स्वामी को सुख होता है। वह इसलिए, कि स्वामी के लिए उसका सुख रूप प्रकट होता है। वही मन्दिर उसके शत्रु को दुःखी करता है, वह इसलिए, कि उसके लिए उसका दुःख रूप प्रकट होता है। वही मन्दिर एक अजनबी निर्धन को मोहित करता है, इसलिए, कि उसके लिए उसका मोह रूप उदय होता है। इसी तरह हरएक पदार्थ हरएक जीव को हरएक समय इन्हीं तीन रूप में से अनुभव होता है। यह तीनों रूप एक साथ अनुभव नहीं होते, जिस समय जिस के लिए जिस पदार्थ से सुख होता है, उसी समय उससे दुःख वा मोह प्रकट नहीं होता। इससे सिद्ध होता है, कि हरएक पदार्थ में सुख दुःख और मोह के उत्पादक तीन भिन्न २ द्रव्य हैं, वही सत्त्व रजस् और तमस् हैं। और हलकापन, प्रीति, तितिक्षा और सन्तोष

आदि यतः सुख के साथ उदय होते हैं, इसलिए यह सत्त्व गुण का ही परिणाम हैं, इन के लिये अलग २ कारण नहीं माने जासक्ते। इसीप्रकार दुःख के साथ चञ्चलता, उत्तेजकता आदि और मोह के साथ निद्रा भारीपन ढांपना आदि रहते हैं। यद्यपि रूप रस आदि और बहुत से रूप पाए जाते हैं, तथापि अन्तःकरण में सभी का ज्ञान सुख दुःख मोह रूप से ही होता है। इसलिये सत्त्व, रजस् तमस् यह तीन ही रूप हरएक पदार्थ के सिद्ध होते हैं॥

यह तीनों गुण किसी दूसरे द्रव्य के धर्म नहीं, किन्तु स्वयं धर्मी [गुण द्रव्य हैं] हैं। क्योंकि इन के संयोग वियोग से सृष्टि होती है, इनको गुण इसलिए कहा है, कि इस सृष्टि में चेतन मुख्य है, यह गुण (=गौण) हैं। अथवा पुरुष के बांधने के लिए गुण (रस्सी) हैं॥

संगति—कारिका १२ में कहे त्रैगुण्य का साधन करके शेष धर्मों का साधन करते हैं:—

अविवेक्यादेः सिद्धिस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययेऽभावात्।
कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्याव्यक्तमपिसिद्धम्॥१४॥

अर्थ—अविवेकि आदि की सिद्धि तीन गुणोंवाला होने से होती है, क्योंकि उससे उलटे में अभाव है, और कार्य यतःकारण-गुण स्वरूप होता है, इससे प्रधान भी (वैसा) सिद्ध है॥

अब जब सभी पदार्थ सुख दुःख मोह रूप से वा प्रकाश क्रिया [अविवेकि आदि की सिद्धि] और स्थिति स्वभावसे तीन गुणों वाले सिद्ध होगए, तो तीनों गुणों वाला होने से अविवेकि आदि की सिद्धि होगई, क्योंकि जब तीनों गुण स्वयं अविवेकि (मिलकर कार्य करनेवाले), विषय, सांझे, अचेतन और परिणाम शील है, तो त्रिगुणात्मक हरएक पदार्थ वैसाही होगा। और जो इनसे

उलटा है, अर्थात् अचेतन नहीं, चेतन है, परिणाम शील नहीं, अपरिणामी है, उसमें तीन गुणों का भी अभाव है। (प्रश्न) हो इन धर्मों की व्यक्त में सिद्धि, तथापि अव्यक्त में सिद्धि कैसे हो, जब कि अभी तक अव्यक्त ही सिद्ध नहीं है, इसका उत्तर देते हैं—कार्य यतः कारण गुणस्वरूप होता है, इससे प्रधान भी ऐसा ही सिद्ध है, यह अभिप्राय है, कार्य कारण स्वरूप देखा गया है, जैसा कि कपड़ा तन्तु गुणस्वरूप होता है, इसीप्रकार महत् आदि कार्य जो कि सुख दुःख मोहस्वरूप हैं, इन का कारण भी एतद्रूप ही होना चाहिये, वह कारण सुख दुःख मोह स्वरूप प्रधान सिद्ध है, वह छिपा हुआ होने से अव्यक्त है॥

संगति—मूल कारण एक अलग है और वह अव्यक्त है, इस में क्या प्रमाण है?

भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य॥ १५॥

अर्थ—भेदों के परिमाण से, समन्वय से, शक्ति द्वारा प्रवृत्ति से, और कारण कार्य के विभाग और अविभाग से, नाना रूप (जगत्) का (* कारण है अव्यक्त)॥

अलग कारण की सिद्धि

पर्वत, धातु, वृक्षादि तथा सूर्य चन्द्र तारा आदि और पृथिवी जल वायु आदि जो नाना भेद बाह्य जगत् में हैं, और बुद्धि अहङ्कारादि जो अध्यात्म में हैं, इनमें से कोई भी जगत् का मूल कारण नहीं बन सक्ता, क्योंकि यह सब परिमाण वाले हैं, अपनी २ सीमा के अन्दर हैं, सारे फैला हुआ कोई

* अगली कारिका १६ के साथ अन्वय है।

नहीं। और कारण सबका वह होसक्ता है,जो सारे फैला हुआ हो। सो यह सब जगत् का एक २ टुकड़ा बन सक्ते हैं, मूल कारण इनसे अलग कोई और है, वही अव्यक्त है॥

किञ्च, इन सारे भेदों में सुख दुःख मोह का समन्वय (एक रूप संयोग) है। एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण होकर भी सभी सुख दुःख मोह रूप हैं। सो जैसे एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण भी सोने के भूषणों में सब में सुवर्ण द्रव्य का समन्वय है, तो वह अपने से भिन्न एक कारण वाले हैं, जो कि उन सब में समन्वित सुवर्ण द्रव्य है। इसीप्रकार सुख दुःख मोह से समन्वित यह सारे भेद अपने से भिन्न एक कारणवाले हैं, जोकि उन सब में समन्वित सुख दुःख मोहरूप वा सत्त्व,रजस् तमस् रूप है, वही अव्यक्त है॥

इसकारण का नाम अव्यक्त क्यों है, इसका उत्तर देते हैं—

इस अलग कारण का नाम अव्यक्त कैसे हुआ

'शक्ति द्वारा प्रवृत्ति से' यह सिद्ध है, कि कारण की शक्ति से कार्य प्रवृत्त होता है, क्योंकि अशक्त कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, जैसे रेत से तेल की। और शक्ति कारण में इससे अतिरिक्त कुछ नहीं, कि अव्यक्त रूप (अप्रकट रूप) में कार्य उसमें पहले ही है। यही तिलों का रेत से भेद है, कि इन्हीं में अव्यक्तरूप मे तेल है,न कि रेत में। सो व्यक्त जो कार्य है, अव्यक्तरूप ही उसका कारण है,इसलिए कारण को अव्यक्त कहा है। यद्यपि घड़े की अपेक्षा मट्टी भी अव्यक्त है, तथापि गन्ध तन्मात्र की अपेक्षा मट्टी व्यक्त है, इसीतरह गन्ध तन्मात्र अहंकार की अपेक्षा और अहंकार महत् की अपेक्षा और महत् प्रधान की अपेक्षा से व्यक्त है। प्रधान किसी की अपेक्षा से व्यक्त नहीं, वह सब की अव्यक्तावस्था है, इसलिए उसी को अव्यक्त कहते हैं॥

किंच कारणकार्य का विभाग और अविभाग है। तन्तु कारण हैं; वस्त्र कार्य है। यह कारणकार्य का विभाग है। पर वस्तु दृष्ट्या वस्त्र तन्तु ही है, अन्य कुछ नहीं, यह अविभाग है। तथापि जैसे आकार में तन्तु स्पष्ट जाने जाते हैं, वैसा आकार वस्त्र की अवस्था में व्यक्त नहीं है, अर्थात् व्यक्त वस्त्र में तन्तु अव्यक्त हैं। इसीप्रकार व्यक्त जगत् में प्रधान अव्यक्त है, इसलिए उसे अव्यक्त कहते हैं—जैसा कि वार्षगण्याचार्य ने कहा है—**गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथ मृच्छति। यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्**= गुणों का असली रूप दृष्टिगोचर नहीं होता है, जो दृष्टिगोचर होता है, वह माया सा है, अतीव तुच्छ (बदला हुआ) है॥

संगति—अव्यक्त को साधकर उसकी प्रवृत्ति का प्रकार कहते हैं:—

कारण मस्त्य व्यक्तं प्रवर्त्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।
परिणामतःसलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् १६

अर्थ—कारण है अव्यक्त, वह तीन गुणोंवाले परिणाम से प्रवृत्त होता है और इकट्ठे (परिणाम) से एक २ गुण के आश्रय के भेद से जलवत् (प्रवृत्त होता है)॥

अव्यक्त की प्रवृत्ति दो प्रकार से होती है, एक प्रलय में।

अव्यक्त की प्रलय में प्रवृत्ति | प्रलयावस्थामें भी सत्त्व, रजस्, तमस् सदृश परिणाम वाले होते हैं, क्योंकि परिणाम शील गुण परिणाम के विना क्षण भी नहीं ठहरते हैं। इसलिए सत्त्व सत्त्वरूप से, रजस् रजो रूप से, तमस् तमो रूप से, प्रलयावस्था में भी प्रवृत्त रहता है, सो यह कहा है "तीन गुणोंवाले परिणाम से प्रवृत्त रहता है"॥

पर सृष्टि की अवस्था में तीनों इकट्ठे मिलकर एक परिणाम

अव्यक्त की सृष्टि में प्रवृत्ति

में प्रवृत्त होते हैं। गुणोंका मिलकर एक परिणामगुण प्रधान भाव के विना नहीं होसक्ता, और गुण प्रधान भाव विषमता के विना नहीं होसक्ता, और विषमता एक दूसरे को दवाए विना नहीं होती। सो इसप्रकार जब एक दूसरे दोनों को दवाकर आप प्रधान होकर कार्य आरम्भ करता है, तो वह वि-सदृश परिणाम वा विरूप परिणाम होता है। इसी परिणाम से महत् आदि की सृष्टि होती है॥

तीन स्वभाववाले तीन गुणों से इतनी विचित्र सृष्टि कैसे ?

सृष्टि की विचित्रता कैसे होती है

उत्तर यह है, कि जैसे मेघ से गिरा एक ही जल आश्रय के भेद से विचित्र रसों में परिणत होता है। सेव में वही पानी मीठा वन जाता है, निम्ब में कड़वा, मिरच में तिक्त, इमली में अमल, लवण में लवण, आंवले में कसैला, और इसीप्रकार कहीं खट्टा मिट्ठा इत्यादि अनेक विचित्र रसों में परिणत होता है। इसीप्रकार सत्त्व, रजस् तमस् में से एक २ गुण के उदय होने से उस प्रधान गुण के आश्रय के भेद से भिन्न २ विचित्र रचना होती है॥

संगति—अव्यक्त की सिद्धि और उसकी प्रवृत्ति कहकर पुरुष का अस्तित्व साधन करते हैं :—

संघात परार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात । पुरुषोऽस्ति भोक्तृ भावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥

अर्थ—संघात के परार्थ होने से, त्रिगुणादि से विपर्यय होने से, अधिष्ठान से, भोक्ता होने से, और मोक्ष के लिये प्रवृत्ति से, पुरुष है॥

पुरुष के अस्तित्व का साधन

है पुरुष, अर्थात् पुरुष आत्मा, शरीर में शरीर से अलग अस्तित्व रखता है, इसमें हेतु यह हैं,

कि जो नाम संघात*है,वह सब किसी दूसरे के लिए होता है, जैसे पाए,बाहु,सेरु और बान का संघात पलंग है,वह परार्थ है,स्वार्थ नहीं; पाए बाहु आदि का आपस में कोई काम नहीं, इससे ज्ञात होता है, कि पलंग से अलग कोई मनुष्य है, जिसके लिए यह पलंग है। इसीप्रकार यह शरीर भी हाथ पैर आंख कान मन बुद्धि आदि का संघात है, यह भी किसी दूसरे के लिए होना चाहिए, जिसके लिये यह है,वही पुरुष है। यदि कहो,कि एक संघात दूसरे संघात के लिये ही होगा, जैसे पलंग शय्या के लिए, और शय्या शरीर के लिए,फिर इस हेतु से भिन्न आत्मा की सिद्धि कैसे? तो इसका उत्तर यह है। कि तुम इस के अभिप्राय को नहीं समझे, अभिप्राय यह है, कि संघात अवश्य किसी प्रयोजन के लिये होता है, प्रयोजन के लिए होना ही दूसरे के लिए होना है। अब प्रयोजन पलंग से शय्या का क्या सिद्ध हुआ, प्रयोजन तो पलंग से भी शय्या से भी और शरीर से भी चेतन का सिद्ध होता है, शय्या और शरीर का कोई अपना प्रयोजन नहीं, उनका अस्तित्व तो आप दूसरे के प्रयोजन के लिये है। इसलिए हरएक संघात अन्त में किसी असंहत के लिए जा ठहरता है। वही असंहत पुरुष है॥

"त्रिगुणादि से विपर्यय (उलटा) होने से" पूर्व कारिका ११में जो व्यक्त अव्यक्त के धर्म त्रिगुणादि कहे हैं, पुरुष उनसे उलटा होने से भी उनसे अलग सिद्ध होता है, यह सुख दुःख मोह रूप होने से त्रिगुण हैं, वह सुख दुःख मोह रूप नहीं, किन्तु इनको अनुभव

* जो भिन्न २ वस्तुएं एक प्रयोजन के लिये होती हैं, उनके समुदाय को संघात कहते हैं। जैसे पलंग के सारे अंग एक प्रयोजन के लिये अर्थात् सोने के लिये हैं॥

करता है, अतएव इनसे अलग है। इसीप्रकार यह बदलते रहते हैं, पुरुष सदा एकरस अनुभव होता है। अतएव यह अनुभव होता है, कि जिस मैंने बचपन में पिता की गोद का आनन्द अनुभव किया है, वही मैं अब पोतों का सुख अनुभव कर रहा हूं। यहां शरीर तो बदलता रहा है, पर "वही मैं" यह बचपन और बुढ़ापे में अभेद साधक प्रतीति शरीर से अलग आत्मा को सिद्ध करती है॥

"अधिष्ठान से" जैसे रथ जड़ होने से बिना सारथि के अभीष्ट मार्ग पर नहीं चल सक्ता, इसीप्रकार जड़ शरीर भी बिना चलाने वाले चेतन के इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट से बचने के मार्ग पर नहीं चल सक्ता, रथ को सारथि की तरह शरीर को भी चेतन अधिष्ठाता की आवश्यकता है॥

"भोक्तृभाव से" भोग्य से भोक्ता अलग होना चाहिए, यह जगत् भोग्य है, अतएव इसका भोक्ता पुरुष इससे अलग है॥

"कैवल्य के लिये प्रवृत्ति से" शास्त्रों की प्रवृत्ति और दिव्य दृष्टिवाले ऋषियों की प्रवृत्ति पुरुष के मोक्ष के लिए है। यह तभी होसक्ता है। यदि वह पुरुष का शरीर से अलग होना अनुभव करते वा मानते हों। सो अलग पुरुष के होने में जब प्रामाणिक शास्त्र और प्रामाणिक पुरुष सभी एक मत हैं, तो पुरुषका अलग अस्तित्व मानने में कोई झिजक नहीं रहती है॥

संगति–क्या वह चेतन पुरुष सब शरीरों में एक है, वा प्रति शरीर भिन्न भिन्न हैं, इस पर कहते हैं॥

जन्म मरण करणानां प्रतिनियमाद् युगपत् प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥

अर्थ–जन्म मरण और साधनों के अलग २ नियम से, एक

साथ प्रवृत्ति न होने से, और तीनों गुणों के भेद से, पुरुषों का अनेक होना सिद्ध है ॥

पुरुष अनेक हैं, अर्थात् एक ही आत्मा सारे शरीरों में नहीं, [पुरुष अनेक हैं] किन्तु अलग २ शरीरों में अलग २ आत्मा हैं, इसमें यह हेतु हैं :—

कि यदि आत्मा एक हो, तो वह जब जन्मे (=शरीर धारे) [इसमें हेतु यह है] तो सभी जन्मे जाएं, और जब मरे, (शरीर छोड़े) तो सभी मर जाएं, और जब वह किसी साधन से विकल हो, अर्थात् अन्धा हो,वा बहिरा हो, तो सभी अन्धे बहिरे होजाएं। इसका उसका जो अलग २ जन्म मरण हैं, और अलग २ साधन हैं, इसका कुछ अर्थ न रहे। यदि कहो, कि अलग अलग शरीर के उपाधि भेद से यह अलग २ उनका जन्म मरण बन सकेगा, तो यह भी नहीं बन सकता। क्योंकि एक शरीर में जैसे किसी एक अङ्ग के कट जाने वा उत्पन्न होने से जन्म मरण व्यवस्था नहीं होती, जैसे हाथ के कट जाने, वा युवति के स्तन उत्पन्न होने से, इसीतरह जब एकही आत्मा सब में है, तो अलग शरीर उसके अलग २ अङ्गों की तरह हैं, उनसे जन्म मरण की व्यवस्था नहीं होसकेगी, और साधनों की न व्यवस्था तो सर्वथा असम्भव है। जब सारे शरीरों के नेत्र उसी एक आत्मा के हैं, तो एक शरीर के नेत्र फूट जाने से सभी अन्धे हों, वा सभी देखा करें ॥

२—किंच यदि सब शरीरों में एक ही आत्मा हो, तो जब वह आत्मा शरीर को चलाने का प्रयत्न करे, तो सभी शरीर एक साथ चल पड़ें, क्योंकि उसी के प्रयत्न से सब ने चलना है, और उसमें प्रयत्न होगया है। पर अलग २ आत्मा मानने में यह दोष नहीं आता ॥

३—किंच कई पुरुष सत्त्व गुणी, कई रजोगुणी, और कई तमोगुणी होते हैं। यदि एक ही पुरुष सारे शरीरों में हो, तो यह भेद उन शरीरों में न हो, अनेक होने में यह दोष नहीं आता है॥

संगति—इसप्रकार पुरुषका अस्तित्व और बहुत्व साधन करके उसके धर्म बतलाते हैं :—

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्व मस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्व मकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥

अर्थ—और उस उलटेपन से इस पुरुष का साक्षी होना, केवल होना, मध्यस्थ होना, द्रष्टा होना, और कर्त्ता न होना सिद्ध है ॥

पुरुष यतः तीन गुणोंवाले पदार्थों से उलटा है, जैसा कि पूर्व [पुरुष के धर्म] कारिका ११ में कहा है और १७ में सिद्ध किया है, इससे पुरुष में यह धर्म सिद्ध होते हैं। (१) वह तीनों गुणों से अलग है, इसलिये वह स्वयं केवल स्वरूप है एक स्वरूप है, अर्थात् चेतन है, (२) चेतन होने से द्रष्टा है, एकएक दृश्य को देखता है। (३) द्रष्टा होने से साक्षी है, (४) अपरिणामी होने से मध्यस्थ है, उदासीन है, एक रस टिका हुआ है, और (५) अकर्ता है, क्रिया वाला नहीं है। क्रिया गुणों में होती है, क्योंकि जिस में क्रिया होती है, उसमें परिणाम अवश्य होता है॥

संगति—यदि चेतन कर्त्ता नहीं है, तो फिर 'मैं जो चेतन हूं, मैं करता हूं'। यह प्रतीति कैसे होती है, इसका उत्तर देते हैं :—

तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥

अर्थ—सो उनके संयोग से अचेतन भी बुद्धि चेतनसी, और गुणों के कर्त्ता होने पर भी उदासीन (पुरुष) कर्त्ता सा होता है ॥२०॥

जब यह सिद्ध होगया, कि पुरुष अकर्त्ता है, और बुद्धि जड़ है, तो फिर जो बुद्धि चेतन सी प्रतीत होती है, वह पुरुष चेतन के सम्बन्ध से प्रतीत होती है, अर्थात् पुरुष की चेतनता सम्बन्ध से उसमें भासती है। और कर्त्ता गुणहैं,क्योंकि क्रिया उन्हींमें होती है,पुरुष उदासीन है,तथापि गुणों के सम्बन्ध से कर्त्ता सा प्रतीत होता है। जैसे अग्नि और लोहे के संयोग में, अग्नि ठोस और लोहा उष्ण प्रतीत होता है, अर्थात् एक दूसरे का धर्म एक दूसरेमें प्रतीत होता है, इसी तरह बुद्धि पुरुष के संयोग में बुद्धि का कर्तृत्व पुरुष में और पुरुष की चेतनता बुद्धि में प्रतीत होती है ॥

पुरुष और बुद्धि के सम्बन्ध का फल

संगति—"इनके संयोग से" यह कहा है। पर भिन्नोंका संयोग दोनों की अपेक्षा से होता है, यहां जो प्रकृति और पुरुषका संयोग हुआ है, इसमें इन दोनों को एक दूसरे की क्या अपेक्षा है, इसका उत्तर देते हैं:—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥२१॥

अर्थ—पुरुष का दर्शन के लिये और प्रधान का मोक्ष के लिए दोनों का लूले और अन्धे की तरह संयोग है, उस से की हुई सृष्टि है

पुरुष का प्रधान के साथ संयोग दर्शन के लिये है। प्रकृति से संयुक्त हुआ पुरुष प्रकृति को और उसके कार्य को देखता है। और प्रधान का पुरुष के साथ संयोग कैवल्य के लिये है। प्रधान जो पुरुष के लिए विविध रचना रचती है इसका परम उद्देश्य पुरुष को मोक्ष देना है (देखो कारिका ५७—६३) जब तक पुरुष प्रकृति के ही दृश्य को देखता है, तब तक यह उसे भोग देती है। फिर जब वह अपने

पुरुष और प्रकृति को संयोग की अपेक्षा

स्वरूप को देखता है तो यह उसे मोक्ष देती है भोग और मोक्ष की प्राप्ति के लिये साधन सब प्रकृति रचती है ॥

'यह इनका संयोग लूले और अन्धे की तरह है' जैसे व्यापार को

इनके संयोग में दृष्टान्त] जाते हुए एक सार्थ पर निर्जन उजाड़ में डाकुओं ने आक्रमण किया। सब आपोधाप में जिधर भाग सके, भाग गये। एक लूला और अन्धा पीछे रह गए, डाकुओं ने तो उनको छोड़ दिया, पर अब अपने अभीष्ट स्थान पर पहुंचना दोनों के लिये कठिन था, अन्धा तो देख नहीं सक्ता था, और लूला चल नहीं सक्ता था। अन्धे को आवश्यकता थी, कि उसे कोई मार्ग दिखलाए, लूले को आवश्यकता थी, कि उसे कोई उठा ले चले। उन दोनों ने आपस में मेल किया। अन्धे ने लूले को अपने कन्धों पर उठा लिया, और लूला जिधर२ अन्धे को चलाता गया, वह चलता गया। इस तरह वह जगह २ पर मार्ग के फल खाते हुए अपने अभीष्ट स्थान पर पहुंच गये, और फिर दोनों अलग २ होगए। इसीतरह अन्धी प्रकृति किसी द्रष्टा की अपेक्षा रखती है, और क्रियाहीन अकर्त्ता पुरुष किसी चलने वाले की। दोनों मिलकर एक दूसरे की अपेक्षा को पूरा कर सक्ते हैं। इसलिये दोनों का संयोग (मेल) हुआ ॥

संयोग का फल] उस संयोग से आगे सृष्टि हुई ॥

संगति—वह सृष्टि इस क्रम से हुई ॥

प्रकृतेर्महां स्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥२२॥

अर्थ—प्रकृति से महत्, उससे अहङ्कार, उससे सोलह का समूह, उस सोलहमें जो पांच हैं, उनसे पांच भूत (उत्पन्न होते हैं)॥

प्रकृति जो अव्यक्त है, उससे महत् तत्त्व उत्पन्न हुआ, महत्

[उत्पत्ति का क्रम] तत्त्व से अहङ्कार, अहङ्कार से पांच तन्मात्र, और ग्यारह इन्द्रिय (पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, और मन) इन सोलह में जो ग्यारह इन्द्रिय हैं, उनसे आगे कुछ उत्पन्न नहीं हुआ किन्तु जो पांच तन्मात्र हैं, उनसे आगे महाभूत उत्पन्न हुए। वह इस क्रम से, कि शब्द तन्मात्र से आकाश शब्द गुणवाला। शब्द तन्मात्र से मिले हुए स्पर्श तन्मात्र से वायु शब्द स्पर्श गुण वाला। शब्द तन्मात्र और स्पर्श तन्मात्र से मिले हुए रूप तन्मात्र से तेज शब्द स्पर्श रूप गुणवाला। शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, और रूप तन्मात्र से मिले हुए रस तन्मात्र से जल शब्द स्पर्श रूप रस गुणवाला। शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र और रस तन्मात्र, से मिले हुए, गन्ध तन्मात्र से शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध गुणोंवाली पृथिवी उत्पन्न होती है॥

संगति—अव्यक्त का निर्णय करके अव्यक्त के प्रथम कार्य बुद्धि का वर्णन करते हैं:—

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
सात्विक मेतद्रूपं तामसमस्माद् विपर्यस्तम्॥ २३॥

अर्थ—बुद्धि निश्चयरूप है, इसका सात्विकरूप धर्म ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य है, और तामस इससे उलटा है॥

बुद्धि वह द्रव्य है, जिससे किसी वस्तु वा काम का निश्चय

[बुद्धि का लक्षण] किया जाता है॥

बुद्धि के आठ रूप हैं, चार सात्विक और चार तामस।

[बुद्धि के सात्विक रूप] सात्विक यह चार हैं, धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। जब बुद्धि में सत्व बढ़ता है, रजस् और तमस् दबते हैं, तो पुरुष धर्म अर्थात् दान दया यम नियमादि में प्रवृत्त होता

है, ज्ञान अर्थात् प्रकृति पुरुष का तत्त्वज्ञान लाभ करता है। वैराग्य में प्रवृत्त होता है। वैराग्य चार प्रकार का है, यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय, और वशीकार। इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्त न हों, इसके लिये जो प्रयत्न करना है, वह यतमान वैराग्य है। इस प्रयत्न से जो इन्द्रिय विषयों से रुक गए हैं, और जो अभी रोकने शेष हैं, उनको निखेरना, जिससे कि अब उन के रोकने पर विशेष ध्यान दियाजाए, यह व्यतिरेक वैराग्य है। जब बाहर सारे इन्द्रिय रुककर मन में केवल उनकी सूक्ष्म वासना ही शेष रहजाती है, तो वह एकेन्द्रिय वैराग्य है। जब मन से वासना भी मिट जाती है, यहां तक कि बड़े बड़े प्रलोभन भी उसके सामने हों, तो उसका चित्त न डोले, यह वशीकार वैराग्य है। यह बुद्धि का धर्म वैराग्य है। चौथा ऐश्वर्य यह है, कि अणिमा आदि आठ सिद्धियां उसे प्राप्त होती हैं। **अणिमा** सूक्ष्म बन जाना, **लघिमा** हलका होजाना, **महिमा** बड़ा होजाना, **प्राप्ति** = सर्वत्र पहुंच होनी, **प्राकाम्य** इच्छा में रोक न होना, **वशित्व**=वश में कर लेना **ईशितृत्व**=मालिक होना, **यत्र कामावसायिता**—सत्य संकल्प होना। यह चार बुद्धि के सात्विक धर्म हैं॥

तामस धर्म इनसे उलटे हैं, अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य,

[बुद्धि के तामस धर्म] और अनैश्वर्य यह चार बुद्धि के तामस धर्म हैं

संगति-बुद्धि के अनन्तर अहंकार का वर्णन करते हैं:—

अभिमानोऽहंकारस्तस्माद्द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्र पञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥

अर्थ—अहङ्कार अभिमान है, उससे दो प्रकार की सृष्टि होती है, (एक तो) ग्यारह का समूह, और (दूसरा) पांच तन्मात्र ॥

अभिमान = मैं का भाव, मैं इसमें समर्थ हूं, यह मेरे लिये है,

अहंकार का लक्षण] इसप्रकारका भाव जिस द्रव्यसे उत्पन्न होता है, वह अहङ्कार है, अहङ्कार बुद्धि का कार्य है ॥

अहङ्कार से आगे ग्यारह इन्द्रियों और पांच तन्मात्रों की

अहंकार की सृष्टि] सृष्टि होती है, वह इसप्रकार :—

सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः सतामसस्तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥

अर्थ—सत्त्वगुणी ग्यारह सत्त्वगुणी अहङ्कार से प्रवृत्त होते हैं, तमोगुणी से तन्मात्र (क्योंकि) वह तमोगुणी है, रजोगुणी से दोनों

इन्द्रिय सत्त्वगुणी अहङ्कार से उत्पन्न हुए हैं क्योंकि यह

इन्द्रियों की उत्पत्ति] हलके हैं और प्रकाशक हैं ॥

और पांच तन्मात्र तमोगुणी अहंकार से उत्पन्न हुए हैं

पांच तन्मात्रों की उत्पत्ति] क्योंकि वह स्वयं तमोगुणी हैं ॥

(प्रश्न) यदि अहंकार की सारी सृष्टि सात्विक और तामस

रजो गुण का काम] अहंकार से ही उत्पन्न होती है, तब रजोगुण उसमें व्यर्थ ठहरता है, इसका उत्तर देते हैं, "रजोगुणी से दोनों" यह अभिप्राय है, कि यद्यपि रजोगुण का कोई अलग कार्य नहीं, तथापि सत्त्व और तमस् समर्थ होकर भी अपने आप कार्य को नहीं करते हैं, रजस् उत्तेजक होने से जब उनको चलाता है, तब वह अपना २ कार्य करते हैं। सो उन दोनों ही कार्यों में सत्त्व, और तमस् में क्रिया उत्पन्न करने से रजस् को भी दोनों में कारणता है, इसलिए रजस् व्यर्थ नहीं है ॥

संगति—ग्यारह इन्द्रियों को कहना चाहते हुए पहले बाहर के ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को कहते हैं :—

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्र घ्राण रसनत्वगाख्यानि ।
वाक् पाणि पाद पायूपस्थानिकर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥२६॥

अर्थ–ज्ञानेन्द्रिय हैं–नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा नामवाले, और वाणी, हाथ, पांओं, गुद और उपस्थ को कर्मेन्द्रिय कहते हैं ॥

संगति–ग्यारहवां इन्द्रिय कहते हैं :–

उभयात्मकमत्रमनःसंकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात ।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

अर्थ–मन इस (इन्द्रिय वर्ग) में दोनों का रूप है, संकल्प करनेवाला है (इन्द्रियों के) समान धर्मवाला होने से इन्द्रिय है। गुणों के परिणाम के भेद से नानापन है, जैसे कि वाह्य भेद है ॥

मन का दूसरे इन्द्रियों से सम्बन्ध

ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों मन के अधीन अपने २ विषयों में प्रवृत्त होते हैं, इसलिए मन दोनों का रूप कहा है ॥

मन का लक्षण

संकल्प करना अर्थात विशेष्य विशेषण भाव से विवेचना करना मन का धर्म है ॥

मन के इन्द्रिय होने में क्या प्रमाण है

बुद्धि और अहङ्कार को जब इन्द्रिय नहीं माना, तो मनको इन्द्रिय क्यों माना जाए? इसका उत्तर देते हैं–कि जैसे और इन्द्रिय सात्विक अहंकार से उत्पन्न हुए हैं, इसीतरह मन भी सात्विक अहंकार से उत्पन्न हुआ है, इसलिये इन्द्रिय कहा है ॥

इन्द्रियों में शक्ति भेद कैसे हुआ

प्रश्न उत्पन्न होता है, कि जब सभी इन्द्रिय सात्विक अहंकार से ही उत्पन्न हुए हैं, तो इनमें शक्ति भेद कैसे हुआ, कि नेत्र रूप ही देखता है, शब्द को नहीं

सुनता, और श्रोत्र शब्द ही सुनता है, रूप को नहीं देखता है, इत्यादि। इसका उत्तर देते हैं, कि यह नानापन गुणों के परिणाम के भेद मे है। जैसे बाह्य पदार्थों में भेद है, अनेक सत्त्व गुणी पदार्थ हैं, पर उन में आपस में एक दूसरे से बड़ी विलक्षणता है, क्योंकि सत्त्व गुण प्रधानता में भी गुणों का संयोग और उनकी रचना एक दूसरे से भिन्न होती है इसलिए उन में विलक्षणता होती है, इसीप्रकार इन्द्रियों में भी विलक्षणता हुई है॥

संगति–किस२ इन्द्रिय का क्या क्या काम है, यह बतलाते हैं।

शब्दादिषु पञ्चानामालोचनमात्र मिष्यते वृत्तिः।
वचनादान विहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥२८॥

अर्थ–शब्दादियों के विषय में पांचो का आलोचनमात्र काम माना गया है, और बोलना, पकड़ना, चलना, त्यागना और आनन्द (दूसरे) पांचों का॥

[ज्ञानेन्द्रियों का काम] पांच जो ज्ञानेन्द्रिय हैं, उनका काम केवल शब्द आदि अपने विषयों में प्रकाश डालना मात्र है। श्रोत्र केवल शब्द को सुना देता है, नेत्र रूप को दिखला देता है, घ्राण गन्ध को सुंघा देता है, रसना रस को चखा देती है, और त्वचा स्पर्श करा देती है॥

[कर्मेन्द्रियों का काम] पांच कर्मेन्द्रियों में से वाणी का काम बोलना, हाथों का पकड़ना, पाओं का चलना, गुद का मल त्याग, और उपस्थ का आनन्द विशेष है॥

[काम का विभाग] इसतरह पर बाहर के दस इन्द्रिय, मन, अहंकार, और बुद्धि यह सारे सब के सब मिकलर तेरह करण (साधन) आत्मा के पास हैं। इन में से पहला ज्ञान जो इन्द्रियों

से होता है, वह वस्तु का आलोचनमात्र, दिखलाना मात्र, भोला भाला ज्ञान, जिसमें वस्तु का नाम नहीं धरा जाता, ऐसा ज्ञान होता है। जिसके विषय में कहा है " अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालमूकादि विज्ञान सदृशं मुग्धवस्तुजम् " है आलोचन ज्ञान जो पहले पहल किसी कल्पना से रहित बालक और गूंगे आदि के सदृश होता है, जो कि भोली भाली वस्तु से उत्पन्न होता है। उसके पीछे फिर मन से पिछले संस्कारों के सहारे पर उसकी कल्पना कीजाती है, कि यह गौ है वा घोड़ा है, वा श्वेत है, वा लाल है। उसके पीछे अहंकार उससे अपना सम्बन्ध जितलाता है, कि यह मेरे लिए है, वा मेरे लिए नहीं है, फिर बुद्धि निश्चय कराती है, कि यहां यह मेरा कर्त्तव्य है॥

इनमें से पहले ग्यारह इन्द्रिय कहलाते हैं। अहंकार और बुद्धि इन्द्रिय नहीं कहलाते, किन्तु करण वा साधन यह भी हैं, इसलिये साधन वा करण तेरह हैं। मन, अहंकार, बुद्धि यह तीन अन्तःकरण वा अभ्यन्तर साधन और बाहर के इन्द्रिय बाह्य करण वा बाह्य साधन॥

संगति—इनमें से तीन अन्तःकरण का काम बतलाते हैं :-

स्वालक्षण्यं वृत्ति स्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या।
सामान्यकरण वृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥२९॥

अर्थ—अपना २ लक्षण तीनों का काम है, सो यह न सांझा है, करणों का सांझा काम प्राण आदि पांच वायु हैं॥

महत्, अहंकार और मन इनके जो २ लक्षण पूर्व कहे हैं, वही इनके अपने २ काम हैं। जैसे बुद्धि का निश्चय, अहंकार का अभिमान और मन का संकल्प है। यह इन तीनों का अपना २ काम है, सांझा नहीं॥

तीनों अन्तःकरणों का अलग २ काम

प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान यह पांच वायु इनका

सांझा काम] सांझा काम है। यह पांच प्रकार का जीवन कार्य मन अहंकार और बुद्धि के आश्रित है, इनके होते हुए होता है न होते हुए नहीं होता। (प्राणादि का सविस्तर वर्णन देखो पूर्व पृ० १.६)

संगति—साधनों का अपना २ काम करने में क्रम अक्रम बतलाते हैं।

युगपच्चतुष्टयस्यतु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा ।
दृष्टे तथाऽप्य दृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥

अर्थ—प्रत्यक्ष में तो इन चारों का काम एक साथ और क्रमशः (सांख्याचार्यों से) बतलाया गया है, और अप्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष पूर्वक तीनों का काम वैसा (एक साथ और क्रमशः) होता है ॥

प्रत्यक्ष में इन्द्रिय, मन, अहंकार, और बुद्धि यह चार साधन

प्रत्यक्ष में चारों का काम एक साथ | काम करते हैं। कभी २ तो एक साथ सभी काम कर देते हैं। जैसे घुप अन्धेरे में बिजली के चमकने से एक यात्री अपने सामने बहुत निकट एक बाघ को देखता है, तो उस समय उसका आलोचन, संकल्प, अभिमान और अध्यवसाय एक साथ प्रकट होते हैं, अतएव एकदम वह वहां से हट जाता है ॥

जब थोड़े प्रकाश में पहले एक वस्तु को देखता है, कि यह

चारों का काम क्रमशः] कुछ है, फिर मन को एकाग्र करके जानता है, कि यह हाथ में भरी हुई बन्दूक लिए एक डाकू है। और फिर यह तो मेरी ओर आरहा है ऐसा अभिमान करता है (अपने साथ सम्बन्ध करता है), तब यह निश्चय करता है, कि इस स्थान से मैं हट जाऊं, और हट जाता है। यहां चारों ने क्रम से काम किया है ॥

अप्रत्यक्ष में बाह्य इन्द्रियों की पहुंच नहीं होती, वहां मन,

अप्रत्यक्ष में तीन अन्तःकरण का काम

अहंकार और बुद्धि ही काम करते हैं, पर अप्रत्यक्ष में भी प्रत्यक्ष की तरह संकल्प अभिमान और अध्यवसाय एक साथ भी होते हैं, और क्रमशः भी होते हैं॥

अप्रत्यक्ष ज्ञान सभी प्रत्यक्ष के अधीन होता है। अप्रत्यक्ष

अप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष के अधीन होता है

ज्ञान तीन प्रकार का है, अनुमान, आप्तवचन और स्मृति। अनुमान तो स्पष्ट प्रत्यक्ष पूर्वक है। आप्त भी अपने प्रत्यक्षको ही वचन से कहता है, यदि अनुमित पदार्थ को भी कहता है, तो वह अनुमान भी प्रत्यक्ष पूर्वक है, और सुननेवाले को भी प्रत्यक्ष के सहारे ही उस का अर्थ ज्ञात होता है। और स्मृति भी अनुभव किए हुए की होती है, इसलिए वह भी अन्ततः प्रत्यक्ष पूर्वक ही है॥

संगति—इन्द्रियों की आपस में अनुकूलता और उसमें हेतु कहते हैं:—

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूत हेतुकां वृत्तिम्।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनाचित् कार्यते करणम् ॥३१॥

अर्थ--(करण) एक दूसरे के अभिप्राय को लेकर अपना २ काम आरम्भ करते हैं, (इसमें) पुरुष का प्रयोजन ही हेतु है। करण किसी से काम में लगाया नहीं जाता है॥

जिसतरह शत्रु को जीतने का एक सांझा प्रयोजन रखकर

इन्द्रियों की आपस में अनुकूलता

प्रवृत्त हुई सेना आपस में एक दूसरे के अनुकूल होती है। एक दूसरे का संकेत पाते ही तोपवाला तोप, बन्दूक वाला बन्दूक, और तलवार वाला तलवार उठा लेता है। काम हरएक अपना २ करता है, पर हरएक का

एक दूसरे के अनुकूल होता है। इसीतरह यह करण भी एक दूसरे का अभिप्राय पाकर एक दूसरे के अनुकूल काम करते हैं। आंख देखती है, तो उसका अभिप्राय पाकर मन झट उसको सोचता है, अहंकार अभिमान करता है, और बुद्धि निश्चय करती है। काम सब अपना २ करते हैं, पर हरएक अपने काम से दूसरे के काम को सहायता देता है॥

सैनिकों की तरह इन साधनों का भी एक प्रयोजन है। [इस अनुकूलता में हेतु] जैसे वह अपने राजा का ऐश्वर्य बढ़ाने वा शत्रु से बचाने का एक प्रयोजन रखते हैं, इसलिये तोपवाले की तोप और बन्दूक वाले की बन्दूक एक दूसरे के अनुकूल उठती है, इसी तरह साधनों का काम पुरुष को बचाना वा उस का ऐश्वर्य बढ़ाना है, इसलिय स्वभावतः एक दूसरे के अनुकूल प्रवृत्त होते हैं, कोई इनको लगाता नहीं है। स्वभावतः हमारी भलाई में लगे रहते हैं।

संगति—करण और उन के कार्यों का विभाग करते हैं:—

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्।
कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥३२॥

अर्थ—साधन तेरह प्रकार का है, वह आकर्षण धारण और प्रकाश करने वाला है, उसका विषय जो कि आकर्षण धारण और प्रकाश किया जाता है, वह दस प्रकार का है।

जीवात्मा के पास काम करने के साधन तेरह हैं। ग्यरह [साधन और उनके काम] इन्द्रिय और अहङ्कार और बुद्धि। इन में से कर्मेन्द्रियों का काम आकर्षण करना, ज्ञानेन्द्रियों का प्रकाश करना और मन बुद्धि अहंकार का शरीर को धारण करना है। इन के जो लक्ष्य आकर्षण के योग्य, धारने योग्य

और प्रकाशने योग्य विषय हैं, वह सब शब्द स्पर्श रूप रस गन्धवाले हैं। और शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध दिव्य (=जो योगियों को ही अनुभव होते हैं) और अदिव्य भेद से दस होते हैं, इसलिये आकर्षणीय, धारणीय और प्रकाशनीय पदार्थ दस प्रकार के हैं।

संगति—तेरह साधनों में अवान्तर विभाग दिखलाते हैं—

अन्तः करणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥३३॥

अर्थ—अन्तःकरण तीन प्रकार का है, उन तीनों को (बाहर का) विषय बतलाने वाला बाह्य दस प्रकार का है। बाह्य करण वर्तमान कालवाला होता है, और अन्तःकरण तीनों कालों वाला होता है।

[करणों के आन्तर और बाह्य भेद] पूर्वोक्त तेरह करणों के दो भेद हैं। अन्तः और बाह्य। अन्तःकरण तीन हैं मन अहंकार और बुद्धि। और बाह्य करण दस हैं, पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय

[बाह्यकरणों की पहुंच] बाह्य करणों की पहुंच केवल वर्तमान काल तक है। नेत्र से हम वर्तमान रूप को ही देख सक्ते हैं, न भूत को न भविष्यत् को। इसी प्रकार दूसरे इन्द्रियों से भी वर्तमान को ही ग्रहण करते हैं।

[अन्तः करणों की पहुंच] पर मन बुद्धि और अहंकार की पहुंच तीनों कालों तक होती है। मन अहंकार और बुद्धि में हम तीनों कालों के पदार्थों का ख्याल अभिमान और निश्चय कर सक्ते हैं। जैसे नदी के मैले और वेगवाले प्रवाह को देख कर हो चुकी वृष्टि का, और वायु का दबाव देखकर होने वाली वृष्टि का और धुआं देखकर वर्तमान अग्नि का पता लगा लेते हैं। यह सब बाह्य साधनों से नहीं, अपितु अन्तः साधनों की शक्ति

से ज्ञात होता है, और जितनी जिसकी अन्तः शक्तियां बढ़ी हुई होती हैं, उतना उस का ज्ञान दूर पहुंचता है और ठीक उतरता है।

संगति—वर्त्तमान कालवाले बाह्य करणोंके विषयकी विवेचना करतेहैं:—

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि।
वाग्भवतिशब्द विषयाशेषाणि तु पञ्चविषयाणि॥३४

अर्थ--उनमें से ज्ञानेन्द्रिय पांच विशेष और अविशेष विषयों वाले हैं। वाणी शब्द के विषयवाली है, शेष पांच विषयोंवाले हैं॥

बाह्य इन्द्रियों के विषयों की विवेचना

बाह्य करण जो दस कहे हैं, उनमें से ज्ञान इन्द्रियों का विषय तो विशेष और अविशेष दोनों होते हैं, विशेष स्थूल और अविशेष सूक्ष्म। हमारा नेत्र स्थूल रूप को ही देखता है। पर योगी स्थूल रूप को भी और रूप तन्मात्रको भी देखते हैं। इसीप्रकार हमारे और उनके श्रोत्रादि में भेद है। और कर्मेन्द्रियों में से बाणी का विषय तो केवल शब्द है। शेष कर्मेन्द्रिय पांच २ विषयोंवाले हैं। हाथ से जिस वस्तु को पकड़ते हैं, वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध वाली होने से पांच विषयोंवाली है, इसीतरह शेष इन्द्रिय भी पांच २ विषयोंवाले हैं॥

संगति—अब इन इन्द्रियों में गौण मुख्यता दिखलाते हैं॥

सान्तः करणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि॥३५॥

अर्थ—अन्तःकरण सहित बुद्धि जिसमे हरएक विषय को अवगाहन करती है, इसलिये तीन प्रकार का करण द्वारवाला है शेष सब द्वार हैं॥

करणों में गौण मुख्य भेद

बाह्य करण तो वस्तु को अन्तःकरणों के समर्पण कर देते हैं आगे उनकी तह तक पहुंचना और उस

से होनेवाली हानि से वचना वा लाभ उठाना यह हरएक स्थान में मन अहंकार और बुद्धि का काम है, इसलिए यह तीनों आत्मा के पास प्रधान साधन हैं, वाह्य साधन केवल द्वारमात्र हैं ॥

संगति–वाह्य करणों की अपेक्षा प्रधान जो अंतःकरण तीन हैं, उनमें भी बुद्धि प्रधान है, यह बतलाते हैं :–

एते प्रदीपकल्पाः परस्पर विलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३१ ॥

अर्थ–यह दीप तुल्य आपस में विलक्षण गुण विशेष पुरुष के सम्पूर्ण अर्थ को प्रकाशित करके बुद्धि को दे देते हैं :–

यह साधन जो गुणों का कार्य होने से गुण विशेष हैं, यह बुद्धि सब में प्रधान है] आपस में एक दूसरे से विलक्षण होकर सभी दीपक के तुल्य पुरुष के प्रयोजन को पूरा २ प्रकाशित करके अन्ततः बुद्धि को सौंप देते हैं। वाह्य इन्द्रिय पहले आलोचन करके मन को दे देते हैं, मन संकल्प करके अहंकार को और अहंकार अभिमान करके बुद्धि को दे देता है। इसलिये बुद्धि सब से प्रधान है

सर्वं प्रत्युप भोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैवच विशनष्टि पुनःप्रधानपुरुषान्तरंसूक्ष्मम् ॥३७॥

अर्थ–सब के प्रति जो पुरुष का उपभोग है उसको जिस लिए बुद्धि साधन करती है, और वही फिर प्रधान और पुरुष का जो सूक्ष्म भेद है उसको अलग २ करती है (इसलिये प्रधान है)

शब्दादि हरएक वस्तु से जो पुरुष को भोग मिलता है, वह बुद्धि ही पुरुष को भुगाती है, और अन्त में जो प्रकृति पुरुष का विवेक है, जो सूक्ष्म होने से वड़ा दुर्ज्ञेय है, वह भी बुद्धि ही जितलाती है, जिससे पुरुष मोक्ष को प्राप्त होता है। सो यद्यपि सभी करण पुरुषके लिए काम करते

हैं, तथापि भोग और अपवर्ग के प्रति निकटतम साधन होने से बुद्धि ही प्रधान है। जैसे लोक में ग्रामाध्यक्षादि सभी राजा के लिए काम करते हैं, पर निकटतम होने से उन में प्रधान मन्त्री ही होता है॥

संगति—सो इस प्रकार इन्द्रियों का वर्णन करके तन्मात्र और उन के कार्यों वा अविशेष और विशेष का वर्णन करते हैं:—

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च॥३८॥

अर्थ—तन्मात्र अविशेष हैं, उन पांच से पांच भूत उत्पन्न होते हैं, यह विशेष माने गए हैं, क्योंकि शान्त घोर और मूढ हैं।

शब्दादि तन्मात्र अविशेष हैं क्योंकि हमारे उपभोग के योग्य [तन्मात्र अविशेष हैं] गुण उन में कोई नहीं है।

इन पांच तन्मात्रों से पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं, यह [तन्मात्र का कार्य विशेष हैं] विशेष माने गए हैं, क्योंकि इन में से कोई सत्त्वगुण प्रधान होने से शान्त है, कोई रजोगुण प्रधान होने से घोर है, कोई तमोगुण प्रधान होने से मूढ है। हमारे उपभोग के योग्य यह इन में विशेष धर्म हैं, हम इन धर्मों से इन को एक दूसरे से अलग करसक्ते हैं, इसलिए यह विशेष हैं, तन्मात्रों को हम एक दूसरे से अलग करके अनुभव नहीं करसक्ते. इसलिये वह अविशेष हैं, सूक्ष्म हैं।

संगति—विशेषों के अवान्तर भेद कहते हैं:—

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते॥३९॥

अर्थ—सूक्ष्म, माता पिता से उत्पन्न होने वाले, और महाभूत यह तीन प्रकार के विशेष हैं, सूक्ष्म उन में से नित्य हैं माता पिता से उत्पन्न होने वाले निवृत्त होजाते हैं।

ऊपर जो विशेष कहे हैं, उन के तीन भेद हैं, एक वह सूक्ष्म तत्त्व हैं, जिन को सूक्ष्म शरीर माना गया है। दूसरे वह हैं, जो माता पिता से उत्पन्न होते हैं, अर्थात् स्थूल शरीर। तीसरे पांच महाभूत। पत्थर घड़ा आदि भौतिक पदार्थ सब महाभूतों के अन्दर गिने जाते हैं॥

विशेषों के अवान्तरभेद

इनमें जो सूक्ष्म शरीर और मातापितासे होनेवाले स्थूल शरीर हैं, उनमें यह भेद है, कि सूक्ष्म तो नित्य हैं, वह तो मरने के पीछे भी ज्यों के त्यों बने रहते हैं, और दूसरा स्थूल शरीर जाकर बनाते हैं। पर जो माता पिता से उत्पन्न होनेवाले स्थूल शरीर हैं, वह नाश होजाते हैं, उनका अन्तिम परिणाम जलाने से भस्म, दबाने से मट्टी, वा किसी जीव का आहार बनते हैं॥

सूक्ष्म और स्थूल शरीर में भेद

संगति—सूक्ष्म शरीर का आना जाना बतलाते हैं:—

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥ ४७॥

अर्थ—आदि में उत्पन्न हुआ, न रुकनेवाला, नित्य, महत्त्व से लेकर सूक्ष्म पर्यन्त (जो) सूक्ष्म शरीर है वह भावों से बसा हुआ विना भोग के घूमता है॥

सूक्ष्म शरीर जो महत्त्व से लेकर सूक्ष्म भूतों पर्यन्त है अर्थात् महत्त्व, ग्यारह इन्द्रिय, और पांच तन्मात्र (= सूक्ष्मभूत,) इन सत्तरह तत्त्वों का समुदाय है। यह सूक्ष्म शरीर प्रकृति ने आदि सृष्टि में प्रति पुरुष एक २ उत्पन्न किया है, इतना सूक्ष्म है, कि उन जीवों के भी स्थूल शरीर के अन्दर होता है, जिनका स्थूल शरीर भी सूक्ष्मवीक्षण के विना देखा नहीं जासक्ता। यह नित्य है, सृष्टि के आदि से लेकर महाप्रलय तक स्थित रहता है॥

सूक्ष्म शरीर का विशेष वर्णन

जब कोई मरता है, तो उसका सूक्ष्म शरीर उस स्थूल शरीर

सूक्ष्म शरीर का घूमना

से निकल जाता है और दूसरा नया स्थूल शरीर जा बनाता है। जो कुछ हम यहां धर्म अधर्म ज्ञान अज्ञान वैराग्य अवैराग्य और ऐश्वर्य अनैश्वर्य के काम करते हैं, हमारे इन भावों के सूक्ष्म संस्कार इसी सूक्ष्म शरीर पर पड़ते हैं। जैसे किसी वस्त्र में फूल डालकर निकाल लिए जाएं, तो भी उनकी वास उस वस्त्र में बस जाती है। इसीतरह इन भावों की वास से बसा हुआ यह सूक्ष्म शरीर इस शरीर को त्यागकर नया शरीर बनाता है। वह इन्हीं वासनाओं के अनुसार सुख दुःख भोगता है। पर जब एक शरीर को छोड़कर दूसरे में जारहा है, उतने काल में उसे कोई उपभोग नहीं होता॥

संगति-बुद्धि और इन्द्रियों का आना जाना तो आवश्यक है, क्योंकि यहां की सारी वासनाओं का संबन्ध इन्हीं से है, यह यहां की वासनाओं से वासित हुए अगला जन्म आरंभ करेंगे, पर साथ सूक्ष्म भूतों की क्या आवश्यकता है, इसका उत्तर देते हैं:-

चित्रं यथा श्रयमृतेस्थाण्वादिभ्योविनायथाछाया।
तद्वत् विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्॥४१॥

अर्थ-चित्र जैसे आश्रय के विना और छाया जैसे स्थाणु आदि के विना, इसतरह विना सूक्ष्म भूतों के विन सहारे लिङ्ग शरीर (सूक्ष्म शरीर) नहीं रहता है॥

संगति-सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व उपपादन करके जैसे वह नए २ शरीर धारता है, और जिस हेतु से धारता है, यह दोनों बातें बतलाते हैं॥

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिक प्रसंगेन।
प्रकृतेर्विभुत्व योगाद्द नटवद्द व्यवतिष्ठते लिङ्गम्॥४२॥

अर्थ—पुरुष के प्रयोजन के कारण यह सूक्ष्म शरीर निमित्त और नैमित्तिक में आसक्ति से प्रकृति के सामर्थ्य के सम्बन्ध से नट की तरह ठीक २ व्यवहार करता है ॥

यह सूक्ष्म शरीर पुरुष का प्रयोजन अर्थात् जगत् के भोग और इसके पीछे मोक्ष साधने के लिए नट की तरह भिन्न २ रूप धारता है। जिस तरह नट परदे के अन्दर से एक भूमिका ग्रहण करके परशुराम बनकर आजाता है। वही दूसरे दिन दूसरे नाटक में दूसरी भूमिका ग्रहण करके युधिष्ठिर बनकर आजाता है, वही तीसरे दिन वत्सराज बनकर लोगों के सामने आता है। और वही शेर की भूमिका धारणकर शेर के रूप में प्रकट होता है। इसीतरह मर कर जब मनुष्य परदे में चला जाता है। तो फिर इस परदे से दुनिया के रङ्ग (प्लेट फार्म) पर आने से पहले एक नया शरीर धारणकर रङ्ग में आ प्रकट होता है। कभी देवता, कभी मनुष्य, कभी पशु, और कभी वनस्पति का रूप धारकर आता है। नाटक में भेष बदलने वाला एक स्थूल शरीर होता है। यहां उसकी जगह भेस बदलने वाला सूक्ष्म शरीर है और स्थूल शरीर उस पर नए भेस के तुल्य होता है ॥

सूक्ष्म शरीर की नटवत् प्रवृत्ति

इस प्रवृत्ति में हेतु यह है, कि सूक्ष्म शरीर की—निमित्त जो धर्म अधर्म आदि, और नैमित्तिक जो शरीर हैं, उन में लग्न है, प्रेम है। उस प्रेम से एक रूप को त्यागते ही दूसरा धारता है, और जहां जाता है, वैसा रूप धारने की सामग्री उसको प्रकृति से मिल जाती है। प्रकृति सारे फैली हुई है, और उसमें सारे रूप विद्यमान हैं ॥

इस प्रवृत्ति में हेतु और सामग्री

संगति—पूर्व जो निमित्त और नैमित्तिक कहे हैं, उनका विभाग करते हैं:—

सांसिद्धिकाश्चभावाप्राकृतिकावैकृतिकाश्चधर्माद्याः।

दृष्टाःकरणाश्रयिणःकार्याश्रयिणश्चकलिलाद्याः॥४४॥

अर्थ—करण के आश्रयवाले धर्मादिभाव सांसिद्धिक,प्राकृतिक और वैकृतिक देखे गये हैं, और शरीर के आश्रय बूंद आदि ॥

निमित्त नैमित्तिक विभाग]

निमित्त जो कि धर्मादिभाव हैं, यह तीन प्रकार के हैं—सांसिद्धिक प्राकृतिक और वैकृतिक। सांसिद्धिक जो स्वभाव सिद्ध होते हैं, जैसे कपिलमुनि को जन्म के साथ ही धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य थे। यह उन्हीं मुक्त पुरुषों को प्राप्त होते हैं, जो अपनी इच्छा से जगत के उद्धार के लिये आते हैं। दूसरे प्राकृतिक, जो जन्मान्तर की प्रकृति से साथ आते हैं, जैसे सनक सनन्दन आदि की रुचि छोटी अवस्था में ही धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य की ओर थी। ऐसी रुचि उन्हींको प्राप्त होती है, जो पूर्व जन्म में इन्हीं साधनों में लगे हुए शरीर छोड़ चुके हैं। तीसरे वैकृतिकभाव जो गुरु वा शास्त्रादि की प्रेरणा से बुद्धि में एक नया परिवर्त्तन होकर होते हैं। इसके अधिकारी सभी मनुष्य हैं, चाहे उसके पिछले जीवन,वा इसी जन्म में भी बीता हुआ जीवन पाप से भरा हो, पर जब वह सावधान होकर साधनों में लग जाता है, उसी समय से उसमें धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य उत्पन्न होने और बढ़ने लगते हैं, और जितने वेग से वह प्रवृत्त होता है, उतने वेग से बढ़ते हैं। यह धर्मादिभाव जो निमित्त हैं, यह करण अर्थात् बुद्धि के आश्रय हैं। पर जो शरीर के आधार बूंद आदि हैं, अर्थात् गर्भ में रज वीर्य की बूंद से लेकर जो भिन्न २ रूप होते जाते हैं, और फिर उत्पन्न हुए के बाल्य यौवन और बुढापा हैं, यह अवस्थाएं सब के लिये एक जैसी होती हैं,मुक्त भी, पिछले जन्म की कमाई वाले भी, और न कमाई वाले भी, सब एक ही सृष्टि नियम के अधीन जन्म पाते और बढ़ते हैं ॥

संगति—निमित्त और नैमित्तक जान लिये, अब जिस निमित्त का जो नैमित्तक है, वह आठों का अलग २ करके दिखलाते हैं:—

धर्मेणगमन मूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥४४॥
वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात् तद् विपर्यासः ॥४५॥

अर्थ—धर्म से ऊपर गति, अधर्म से नीचे गति, ज्ञान से मुक्ति और उलट (अज्ञान) से बन्ध माना गया है ॥४४॥ वैराग्य से प्रकृतिलय होता है, रजस् के कार्य राग से संसार, ऐश्वर्य से न रोक, और उलट से उसका उलट होता है ॥ ४५ ॥

धर्मादि भावों के फल]धर्म से मनुष्य ऊपर जाता है। अर्थात् आठ प्रकार के दैव सर्ग में जन्म पता है। अधर्म से नीचे जाता है अर्थात् पांच प्रकार के तिर्यक् सर्ग में जन्म पाता है * ज्ञान से मोक्ष होता है, और अज्ञान से बन्ध † होता है॥४४॥निरे वैराग्य से प्रकृतिलय ‡ होता है। राग से संसार (आवागवन) होता है। ऐश्वर्य वाला जो कुछ चाहता है करता है, उसकी इच्छा इच्छा रह कर मिट नहीं जाती, अपितु अपना पूरा फल दिखलाती है। और अनैश्वर्य से इच्छा में रोक होती है, जो अपने अन्दर की शक्तियों पर ईश्वर नहीं,जगत् में उस के लिये विघ्न पर विघ्न हैं।

संगति—यह धर्मादि आठ भाव जो बुद्धि के धर्म कहे हैं, इन का संक्षेप और विस्तार से पूरा वर्णन करने लगे, पहले संक्षेप कहते हैं:—

* देखो तत्त्व समास सूत्र १८ † बन्ध और मोक्ष तीन२ प्रकार देखो तत्त्वसमास पृष्ठ १९-२० ‡ आठ प्रकृतियों में लय (देखो तत्त्व समास १९-२० की व्याख्या)

**एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।
गुणवैषम्य विमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥४६॥**

अर्थ—यह बुद्धि की सृष्टि विपर्यय अशक्ति तुष्टि और सिद्धि नामवाली है। गुणों की विषमता के दबाव से उसके भेद फिर पचास (होते हैं) ॥

बुद्धि सृष्टि का संक्षेप

संक्षेपतः बुद्धि की सृष्टि चार प्रकारकी है,—विपर्यय,अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि । पूर्व जो आठ भाव कहे हैं, वह इन्हीं के अन्तर्गत होजाते हैं । अज्ञान,विपर्यय,में आजाता है, ज्ञान से भिन्न धर्मादि सात यथायोग्य विपर्यय अशक्ति और तुष्टि में आजाते हैं, और ज्ञान सिद्धि में आजाता है ॥

बुद्धि की सृष्टि का विस्तार

रचना में गुणों की न्यूनाधिकता से कहीं कोई गुण बलवाला होजाता है,दूसरे दो दब जाते हैं, कहीं दो बलवान् होते हैं एक दब जाता है, और उनके बल और दबाव की मात्रा भी एक से दूसरे स्थान न्यूनाधिक होती है, इस लिए उस चार प्रकार की सृष्टि के फिर पचास भेद होजाते हैं ॥

संगति—इन्हीं पचास भेदों को गिनाते हैं :—

**पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्चकरणवैकल्यात् ।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधासिद्धिः ॥४७॥**

अर्थ—विपर्यय के पांच भेद होते हैं, और अशक्ति करणों की विकलता से अठाईस भेदों वाली है, तुष्टि नौ प्रकार की और सिद्धि आठ प्रकार की है । यह ५×२८×९×८=५० ॥

संगति—विपर्यय के पांच भेद और उनके अवान्तर भेद कहते हैं :—

**भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः ।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥४८॥**

अर्थ—तमस् और मोह का आठ प्रकार का भेद है, महामोह दस प्रकार का है, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र अठारह प्रकारका है ॥

विपर्यय के पांच भेद यह हैं—तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र [विपर्यय के पांच भेद] और अन्धतामिस्र । इन्हीं को योग में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश कहा है ॥

प्रधान, महत्, अहङ्कार वा पांच तन्मात्र यह आठ जो जड़ [पांचों के अवान्तर भेद] प्रकृतियां हैं, इन्हीं को भूल से आत्मा मान बैठना, तमस् वा अविद्या है, इसका विषय आठ प्रकृतियां होने से अविद्या आठ प्रकार की है। मोह भी आठ प्रकारका है, जो सिद्ध-जन अणिमादिक आठ ऐश्वर्यों को पाकर इनको बुद्धि के धर्म न जान, आत्मा के धर्म मान, इतने में ही आत्मा को कृतकृत्य मान बैठते हैं, उन का यह आठ प्रकार का मोह वा अस्मिता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यह पांच विषय दिव्य (स्वर्गीय) जो देवताओं के ही भोगने योग्य हैं, और अदिव्य जो साधारण लोगों के भोगने योग्य हैं, यह पांच दिव्य और पांच अदिव्य मिलकर दस विषय हैं, इनमें महामोह वा राग इन दस में होने से दस प्रकार का कहा है। ऊपर जो दस विषय और आठ ऐश्वर्य कहे हैं इनकी प्राप्ति में कोई विघ्न डाले, तो उस से द्वेष होता है, उस द्वेष का विषय यह अठारह होने से अठारह प्रकार का द्वेष वा तामिस्र है। सिद्ध आदि जो दस विषयों और आठ ऐश्वर्यों को लाभ करके भोग रहे हैं, और उनमें आसक्त हैं, उनको यह डर बना रहता है, कि हमसे कोई इन्हें छीन न ले, वा मृत्यु द्वारा छिन न जाएं, यह डर अभिनिवेश वा अन्धतामिस्र है और इन अठारह के विषय में होने से अठारह प्रकार का है। सो यह पांच प्रकार का विपर्यय अवान्तर भेद से बासठ प्रकार का है ॥

संगति-विपर्यय कहकर अब अठाईस प्रकार की अशक्ति कहते हैं :-

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धि वधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।
सप्तदशवधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् ॥४९॥

अर्थ—इन्द्रियों के जो ग्यारह वध वह बुद्धि के वधों के साथ मिलाकर अशक्ति बतलाई गई है । तुष्टि और सिद्धि से उलट सत्तरह बुद्धि के वध हैं ॥

बुद्धि की अशक्ति दो प्रकार की होती है, ग्यारह अशक्तियां

| बुद्धि की अशक्ति इन्द्रियों के मारा जाने से |

तो ग्यारह इन्द्रियों के हेतु होती हैं, जब कोई इन्द्रिय मारा जाए, तो बुद्धि में उस ज्ञान की कमी होजाती है, जैसे नेत्र के न रहने से रूप ज्ञान की, इसप्रकार हरएक इन्द्रिय की अशक्ति से बुद्धि में अशक्ति आती है, इन्द्रियों की अशक्तियां यह हैं :—" बाधिर्यं कुष्ठिताऽन्धत्वं जडता ऽजिघ्रता तथा । मूकताकौण्य पंगुत्व क्लैब्योदावर्त मन्दताः " =बहिरा होना (कान की अशक्ति), कुष्ठी होना (त्वचा की की अशक्ति), अन्धा होना (नेत्र की अशक्ति), जड़ता = रस न जानना (रसना की अशक्ति), सूंघना न (घ्राण की अशक्ति) गूङ्गा होना (जिह्वा की अशक्ति),लूला होना (हाथ की अशक्ति), पंगु होना (पाओं की अशक्ति), नपुंसकता (उपस्थ की अशक्ति), उदावर्त = मल बन्ध (गुद की अशक्ति), मन्दता = विचार न सकना वा उन्माद (मन की अशक्ति) ग्यारह यह अशक्तियां हैं ॥

आगे नौ तुष्टियां और आठ सिद्धियां कहेंगे, उन से उलटा

| बुद्धि की सीधी अशक्तियां |

होना यह सीधी बुद्धि की अशक्तियां सत्तरह हैं, इस प्रकार ११ और १७ अठाईस अशक्तियां हैं

संगति- नौतुष्टियां कही हैं, वह गिनाते हैं-

आध्यात्मिकाश्चतस्रःप्रकृत्युपादान कालभाग्याख्याः ।

बाह्या विषयोपरमात् पञ्च नव तुष्टयो अभिमताः॥५०॥

अर्थ–तुष्टियां नौ मानी गई हैं–चार आध्यात्मिक हैं जिनके नाम प्रकृति उपादान काल और भाग्य हैं और पांच बाह्य जो विषयों में वैराग्य से होती हैं ॥

तुष्टि का लक्षण और भेद] तुष्टि= मोक्ष प्राप्ति से पहले ही सन्तुष्ट हो जाने का नाम तुष्टि है वह दो प्रकार की है–बाह्य और आध्यात्मिक ॥

बाह्य पांच तुष्टियां] अन्तरात्मा को समझे विना केवल बाह्य विषयों से वैराग्य होना बाह्य तुष्टियां हैं, वह पांच हैं। पार, सुपार, पारापार, अनुत्तमाम्भः, उत्तमाम्भः। विषयों के उपार्जन करने के उपाय सभी दुःख रूप हैं, ऐसा जानकर विषयों से वैराग्य में जो तुष्टि है, वह पार कहलाती है। उपार्जन करके भी चोरादि से उन की रक्षा में बड़ा दुःख उठाना पड़ता है, इस विचार से जो विषयों से वैराग्य में तुष्टि है, वह सुपार कहलाती है। बड़े आयास से उपार्जन किया हुआ भी धन भोगने से क्षीण होजाता है, इसप्रकार उसका क्षय चिन्तन करते हुए को जो विषयों से वैराग्य में तुष्टि है, वह तीसरी पारापार कहलाती है। फिर भोग के अभ्यास से कामनाएं बढ़जाती हैं, और वह विषयों की अप्राप्ति में कामी को दुःखी करती हैं, इसप्रकार भोग में दोष चिन्तन करते हुए को जो विषयों से वैराग्य में तुष्टि है, वह चौथी अनुत्तमाम्भः कहलाती है। किसी दूसरे का किसी न किसी हीले से छीने बिना अपने पास भोग इकट्ठे नहीं होसक्ते हैं, इसप्रकार हिंसा दोष के देखने से जो विषयों मे वैराग्य में तुष्टि है, वह पांचवीं उत्तमाम्भः कहलाती है ॥

चार आध्यात्मिक तुष्टियां यह हैं—प्रकृति, उपादान, काल, और भाग्य। यह तुष्टियां उन को होती हैं, जो प्रकृति से आत्मा अलग है, ऐसा जानकर भी किसी झूठे भरोसे पर उसे जानने का यत्न नहीं करते। जैसे यह तो जान लिया, कि आत्मा प्रकृति से अलग है, पर उसके साक्षात् के लिए ध्यान धारणा समाधि का अभ्यास कुछ न करना, इस भरोसे पर, कि प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए काम कर रही है, वह भोग की नाईं अपवर्ग भी आप देगी, यह प्रकृति के भरोसे पर तुष्टि **प्रकृतितुष्टि, अम्भः** कहलाती है (यह भरोसा झूठा इसलिए है, कि प्रकृति पुरुष की इच्छा के अधीन चलती है, जब वह आपही सन्तुष्ट होरहा तो प्रकृति उसके लिए क्या करे)। अथवा प्रकृति के भरोसे से आगे बढ़ा और यह मान बैठा, कि संन्यास के ग्रहण से अपवर्ग होजाएगा, यह संन्यास के भरोसे पर तुष्टि **उपादान तुष्टि सलिल** कहलाती है (यह झूठा भरोसा इसलिए है, कि संन्यास भी एक चिन्हमात्र है, उसमें भी ध्यान धारणा का अभ्यास ही साक्षात् का हेतु है) अथवा इस भरोसे पर, कि पुरुष धीरे २ उन्नति की ओर जारहा है, उसे सहज स्वभाव से उन्नत होने दो, समय पाकर अनायास मे मुक्त होजाएगा, यह काल के भरोसे पर **तुष्टिकाल तुष्टिमेघ** कहलाती है (यह झूठा भरोसा इसलिए है कि काल सब कार्यों का सांझा हेतु है, उन्नति की तरह अवनति का भी हेतु है, अतः उन्नति के लिए यत्न ही अपेक्षित होता है) अथवा इस भरोसे पर, कि भाग्य से ही मुक्ति होती है, अतएव वामदेव को जन्मते ही तत्त्वज्ञान हुआ, इसलिए भाग्य ही हेतु है, यह भाग्य के भरोसे पर

तुष्टि भाग्यतुष्टि वृष्टि कहलाती है, (यह झूठा भरोसा इसलिए है, कि भाग्य भी अपने पुरुषार्थ का बनाया हुआ होता है) ॥

सो पांच बाह्य और चार आध्यात्मिक मिलकर नौ तुष्टियां हैं।

सङ्गति-अब गौण मुख्य सिद्धियें कहते हैं :-

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥५१॥

अर्थ—ऊह, शब्द, अध्ययन,तीन दुःख विघात,सुहृत्प्राप्ति,और दान यह आठ सिद्धियां हैं, सिद्धि से पूर्वला तीन प्रकारका अंकस है

आठ सिद्धियां — तत्त्वज्ञान के साधन पांच और तत्त्वज्ञान के फल तीन मिल कर आठ सिद्धियां यह हैं :—

ऊह—पूर्व जन्म के संस्कारों से स्वयं इस सृष्टि के तत्त्वों की छान बीन करना, जिससे कि २५ तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान हो ॥

शब्द—भेदी गुरु का उपदेश ॥

अध्ययन—वेदादि मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन ॥

सुहृत्प्राप्ति—जो स्वयं लोगों का अज्ञान मिटाने के लिए जगत में घूम रहे हैं, ऐसा किसी परम दयालु का मिल जाना ॥

दान—जो अपने खाने पीने की आवश्यकताओं से निरपेक्ष होकर आत्मा का अनुभव करते हुए मस्त पड़े रहते हैं, उनको मट्टी, जल, भोजन, छादन आदि जिस वस्तु की आवश्यकता है, उस२ वस्तु को श्रद्धा पूर्वक ला देना, जिससे वह प्रसन्न हुए तार देते हैं॥

यह पांच सिद्धियां * तत्त्वज्ञान का उपाय हैं। जब इनमें से किसी के द्वारा तत्त्वज्ञान होगया, तो फिर उसका फल अगली तीन सिद्धियां उत्पन्न होती हैं, वह तीन प्रकारके दुःखों का हान हैं॥

आध्यात्मिक दुःखहान—उसके आध्यात्मिक सारे दुःख मिटजातेहैं
आधिभौतिक दुःखहान-उसके आधिभौतिक सारे दुःख मिटजातेहैं
आधिदैविक दुःखहान—उसके आधिदैविक सारे दुःख मिटजाते हैं

इनमें से यह पिछली तीन सिद्धियां मुख्य हैं, क्योंकि यह फल हैं। पहली पांच गौण हैं, क्योंकि यह उपाय है। इन आठों के यह भी नाम हैं :—तार, सुतार, तारातार, रम्यक, सदामुदित, प्रमोद, मुदित और मोदमान॥

संगति—यदि सृष्टि पुरुष के प्रयोजन के लिए है, तो वह पुरुष का प्रयोजन केवल भाव सृष्टि से वा केवल लिङ्ग सृष्टि से पूरा हो जाएगा, दोनों प्रकार की सृष्टियों की क्या आवश्यकता है, इस का उत्तर देते हैं :—

न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः।
लिंगाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधःप्रवर्त्ततेसर्गः ५२

अर्थ—न भावों के विना लिङ्ग न लिङ्ग के विना भावों की सिद्धि होती है। इसलिए लिङ्ग और भाव दोनों प्रकार की सृष्टि होती है॥

---

* श्रीवाचस्पति मिश्र ने इन पांच की व्याख्या इसप्रकार की है। अध्ययन = आचार्य के पास जाकर अध्यात्म विद्या का पढ़ना। शब्द, उन्हीं से उसके परम अर्थ समझना। ऊह=स्वयं मननकरना सुहृत्प्राप्ति=गुरु शिष्य और सब्रह्मचारियों के साथ सम्वाद से उसे दृढ करना। दान = ज्ञान की शुद्धि = वासना समेत संशय विपर्यय को मिटाकर तत्व साक्षात्कार का स्वच्छ प्रवाह बहा देना॥

भाव = धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य

दोनों प्रकार की सृष्टि की आवश्यकता

अनैश्वर्य हैं, यह सब बुद्धि की रचना हैं, और लिङ्ग शरीर=सूक्ष्म शरीर, और स्थूल शरीर और बाहर के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यह सब तन्मात्र की रचना हैं। यह दोनों सृष्टियां एक दूसरे के आश्रय पर हुई हैं। भावों के संस्कारों के प्रभाव से हरएक पुरुष के लिए स्थूल सूक्ष्म शरीर की और बाह्य विषयों की रचना हुई है। यदि बुद्धि में यह संस्कार न होते, तो किसके आकर्षण से उसके अनुकूल रचना होती। इसीतरह इस अध्यात्म सृष्टि और विषयसृष्टि के अधीन भावों की सृष्टि होती है। इन्हीं के सम्बन्ध से, और इन्हीं साधनों से बुद्धि में धर्म अधर्म आदि उत्पन्न होते हैं। पुरुष का प्रयोजन साधने में भी इनको एक दूसरे की अपेक्षा है। भाव, विना विषय सृष्टि और शरीर सृष्टि के भोग और अपवर्ग नहीं साध सक्ते, और विषय सृष्टि वा शरीर सृष्टि, विना भावों के भोग अपवर्ग नहीं साध सक्ती, इसलिए भावसृष्टि और बाह्यसृष्टि दोनों प्रकार की सृष्टि होती है। और यह प्रवाह अनादि से है, इसलिए बीजांकुर की तरह अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं आता॥

संगति–बुद्धिसृष्टिका विभाग किया, अब प्राणीसृष्टिका विभाग करते हैं:–

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः॥५३॥

अर्थ–आठ प्रकार की दैवी सृष्टि है, पांच प्रकार की तिर्यग् योनियों की है, मानुषी एक प्रकार की है, यह संक्षेपतः प्राणियों की सृष्टि है॥

ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, देवता, गन्धर्व, पितर, विदेह और

चौदह प्रकार की प्राणी सृष्टि

प्रकृतिलय, यह आठ प्रकार की दैवी सृष्टि है, जो भिन्न २ कर्म और उपासना का फल है। मानुषी सृष्टि एक ही प्रकार की है। मनुष्यों से निचली तिर्यग् योनियों की सृष्टि पांच प्रकार की है—पशु, पक्षी, सरीसृप (रींगने वाले) कीट और स्थावर। इन सब में चेतन पुरुष द्रष्टा भोक्ता होकर स्थित है॥

संगति--प्राणिसृष्टि में चेतनताका उत्कर्ष निकर्ष दिखलाते हैं।

ऊर्ध्वं सत्व विशालस्तमो विशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्तः॥ ५४॥

अर्थ—ऊपरली सृष्टि सत्त्व प्रधान है, निचली तमः प्रधान है, और मध्यकी रजःप्रधान है यह ब्रह्मासे लेकर शैवाल तक सृष्टि है॥

प्राणि सृष्टि के तीन भेद

मनुष्य से ऊपर की जो दैवी सृष्टि है, उसमें सत्त्व गुण प्रधान है, अतएव उस में चेतनता का सब से बढ़ कर प्रकाश है। मनुष्य से निचली पश्वादि की सृष्टि में तमोगुण प्रधान है, अतएव इन में चेतनता का प्रकाश निकृष्ट है। मानुषी सृष्टि रजोगुण प्रधान है। यह सारी सृष्टि ब्रह्मा से ले कर पानी के शैवाल तक प्राणिसृष्टि है।

संगति—इस सृष्टि में पुरुष कबतक फंसा रहता है, यह दिखलाते हैं:—

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
लिङ्गस्याविनिवृत्ते स्तस्माद् दुःखं स्वभावेन॥५५॥

अर्थ—इसमें बुढापे और मृत्यु के दुःख को चेतन पुरुष प्राप्त होता है, जब तक कि लिङ्ग निवृत्त नहीं होता, इसलिये दुःख स्वभाव से है

यद्यपि अनेक प्राणधारी अभिमत भोगों को भोग रहे हैं, तथापि

संसार में दुःख और उसकी अवधि — बुढ़ापे और मरने का दुःख सब के लिये एक जैसा है। यह दुःख तबतक निवृत्त नहीं होता, जब तक सूक्ष्म शरीर निवृत्त नहीं होता। पुरुष बुद्धि के सम्बन्ध से बुद्धि के दुःख को अनुभव करता है, सम्बन्ध छूटने पर दुःख नहीं रहता है। जबतक सम्बन्ध है, तब तक दुःख स्वभाव से है।

संगति—सृष्टि वर्णन का उपसंहार और सृष्टि के प्रयोजन वर्णन का आरम्भ करते हैं:—

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः।
प्रति पुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥५६॥

अर्थ—इस प्रकार यह प्रकृति से किया हुआ महत् से लेकर विशेष प्राणियों तक का आरम्भ प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिये स्वार्थ की तरह परार्थ है (जिस तरह एक मित्र अपने मित्र के कार्य में प्रवृत्त हुआ उसे अपने स्वार्थ की तरह साधता है, इसी तरह यह प्रकृति पुरुष के प्रयोजन को स्वार्थ की तरह साधती है, जब तक वह मोक्ष नहीं पालेता, मोक्ष पालेने पर फिर उसके लिये रचना नहीं रचती, यद्यपि दूसरों के लिये रचती है, क्योंकि मुक्त को अब उस की रचना से कोई प्रयोजन नहीं रहा)॥

संगति—अचेतन प्रकृति किसतरह पुरुष के प्रयोजन के लिये प्रवृत्त होती है, इसका उत्तर देते हैं—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥५७॥

अर्थ—बछड़े की वृद्धि के निमित्त जिसतरह अचेतन दूध की प्रवृत्ति होती है, उसतरह पुरुष के मोक्ष के लिये प्रधान की प्रवृत्ति

होती है * ।

संगति-स्वार्थ की तरह परार्थ प्रवृति कही है,उसको स्पष्ट करते हैं :-

औत्सुक्य निवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्त्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—उत्कण्ठा के मिटाने के लिए जैसे लोक (दुनिया) कामों में प्रवृत्त होता है (भूख मिटाने के लिए भोजन में प्रवृत्त होते हैं) इस तरह पुरुष के मोक्ष के लिए प्रधान प्रवृत्त होती है ॥

संगति—हो पुरुष के प्रयोजन से प्रकृति की प्रवृत्ति, पर निवृत्ति किससे होती है, इसका उत्तर देते हैं :—

---

* इस कारिका से टीकाकारों ने यह समझा है कि यहां ईश्वर का प्रत्याख्यान किया है, कि जैसे बछड़े के पालन के निमित्त गौ के थनों में जड़ भी दूध अपने आप प्रवृत्त होता है,उसका पालन होजाने पर दूध बनना निवृत्त होजाता है । इसीतरह जड़ प्रधान की भी प्रवृत्ति निवृत्ति अपने आप होती है, उसका अधिष्ठाता ईश्वर मानने की आवश्यकता नहीं । पर मेरे अन्तरीय भाव में तो इसी से ईश्वर की सिद्धि होती है । बछड़े के पालन के लिए दूध न जानता हुआ प्रवृत्त होता है, पर किसके थनों में, एक चेतन गौ के थनों में, जो उस बछड़े की माता है, उसका पालन चाहती है । इसीतरह हमारा पालन चाहनेवाली एक चेतन माता की प्रेरणा से प्रकृति न जानती हुई भी हमारे भोग अपवर्ग के लिए शरीर इन्द्रिय और विषयरूप में परिणत होती है । किन्तु सांख्याचार्यों को प्रकृति पुरुष का विवेचन ही अभीष्ट है, इसलिए अपना वक्तव्य इसी में समाप्त कर देते हैं । ईश्वर का वर्णन न करने से अनीश्वरवादी मानना नवीनों की अपनी भूल हुई है । इतरथा तत्त्व-समास में ईश्वर से नकार करनेवाला एक भी सूत्र नहीं । पंचशिखाचार्य के सूत्रों में भी नहीं, इन कारिकाओंमें भी कहीं नहीं । यही तो प्राचीन ग्रन्थ हमारे पास हैं ।

रंगस्य दर्शयित्वा निवर्त्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्यतथाऽऽत्मानं प्रकाश्यविनिवर्ततेप्रकृतिः ॥५९॥

अर्थ–जैसे (नाटक में) नाचने वाली स्त्री सभा को (नाच) दिखलाकर नाच से निवृत्त होती है, वैसे द्रष्टा पुरुष को अपना आप * दिखलाकर प्रकृति निवृत्त होती है ॥

संगति–पुरुष का इतना उपकार करके भी प्रकृति उस से अपना कोई प्रत्युपकार नहीं चाहती :–

नानाविधै रुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थं मपार्थकं चरति ॥६०॥

अर्थ–नाना प्रकार के उपायों से यह उपकारिणी गुणवती (सत्त्व रजस् तमस् वाली) उस अनुपकारी गुणरहित पुरुष के के अर्थ निःस्वार्थ काम करती है (जैसे कोई परोपकारी सब का भला करता है, और अपना कोई प्रत्युपकार नहीं चाहता) ॥

संगति–अच्छा तो निवृत्त होकर प्रकृति फिर क्या करती है :–

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या दृष्टास्मीति पुनर्नदर्शन मुपैति पुरुषस्य ॥६१॥

अर्थ–प्रकृति से बढ़कर कोई लज्जालु (शर्मीला) नहीं यह मेरी मति है, जो कि 'मैं देखी गई हूं' ऐसा जानकर फिर उस पुरुष के सामने नहीं आती है (अर्थात् फिर प्रकृति उससे छिप जाती है, और पुरुष अपने स्वरूप में स्थित होता है) ॥

संगति–बुद्धि के प्रपञ्च में धर्मादि आठों भाव बुद्धि के धर्म कहे हैं, इन्हीं भावों का फल बन्ध मोक्ष और संसार कहा है, तो फिर जिसमें बन्ध मोक्ष संसार के निमित्त हैं, उसी बुद्धि का

---

* अपने आपको शब्दादि स्वरूप से और पुरुष से भिन्न रूपेण दिखलाकर ।

बन्ध मोक्ष और संसार मानना चाहिए, पुरुष से उसका क्या सम्बन्ध, इस आशंका को स्वीकार करते हुए उपसंहार करते हैं :-

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥

अर्थ—इसलिये साक्षात् न कोई बद्ध होता है, न छूटता है, न (जन्मान्तर में) घूमता है। प्रकृतिही नाना (देव, तिर्यग् और मनुष्यों के) आश्रय वाली हुई घूमती बन्धती और छूटती है।

बन्ध मोक्ष और संसारका साक्षात् संबन्ध किससे है

अज्ञान जो बन्ध का कारण और ज्ञान जो मोक्ष का कारण है और धर्म अधर्म जो संसार के कारण हैं, यह बुद्धि के धर्म हैं, इनका साक्षात् संबन्ध बुद्धि से है, क्यों कि परिणाम बुद्धि में होता है, पुरुष अपरिणामी है। इसलिये इनका फल जो बन्ध मोक्ष और संसार है, उनका भी साक्षात् सम्बन्ध बुद्धि से है। पुरुष एक रस रहता है, बन्ध में भी मोक्ष में भी और संसार में भी। हां बुद्धि में भेद होता है, अज्ञान में जो अवस्था बुद्धि की होती है, ज्ञान में उससे भिन्न होजाती है। आत्मा बुद्धि का द्रष्टा होने से और बुद्धि के आकार से अपने को विविक्त न समझने से उन अवस्थाओं को अपनी अवस्थाएं समझता है। पर वास्तव में वह उसकी नहीं, बुद्धि की हैं। इसलिए बन्ध मोक्ष संसार का साक्षात् सम्बन्ध बुद्धि * से है, आत्मा से परम्परा सम्बन्ध है। जैसे योद्धाओं की जीत हार राजा की जीत हार समझी जाती है।

संगति—कैसे प्रकृति अपने आपको बांधती है, और कैसे छुड़ाती है:-

रूपैः सप्तभिरेवतुबध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैवच पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥६३॥

---

* बुद्धि प्रकृति का ही रूपान्तर है, इसलिये कारिका में प्रकृति कही है

अर्थ-(धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य इन) सात रूपों से प्रकृति आप अपने आपको बांधती है, और वही फिर पुरुषार्थ के लिये (पुरुष का परम प्रयोजन मोक्ष सम्पादन करना है,इसके लिये) एकरूप (ज्ञान रूप) से (अपने आप को) छुड़ाती है।

संगति-तत्त्वों का पूरा ज्ञान दे चुके, अब इसका फल कहते हैं:-

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवल मुत्पद्यते ज्ञानम् ॥६४॥

अर्थ-इसप्रकार तत्त्वों के अभ्यास से "मैं पुरुष हूं" "यह मेरा नहीं, यह मैं नहीं"* इसप्रकार पूरा २, भूल न रहने से शुद्ध, केवल ज्ञान † उत्पन्न होता है।

तेन निवृत्त प्रसवामर्थवशात् सप्तरूप विनिवृत्ताम्।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषःप्रेक्षकवदवस्थितःसुस्थः॥६५॥

अर्थ-उस (ज्ञान) से वह पुरुष शान्त हुआ, अपने लिए रचाना को बन्दकर चुकी और प्रयोजन के वश से सात रूपों को बन्दकर चुकी, प्रकृतिको देखनेवाले की तरह ठहरा हुआदेखता है॥

प्रकृति ने पुरुष के दो ही काम करने हैं, भोग और अप-

ज्ञानी के लिए प्रकृति अपनी रचना बन्द कर देती है

वर्ग। जब तक पुरुष प्रकृति के तत्त्व को नहीं जानता, तब तक वह उसके लिए भोग्य वस्तुएं रचती है, जब उस के तत्त्व को जान लेता है, तब वह प्रकृति को अलग समझ कर प्रकृति से स्वतन्त्र हो

* मैं पुरुष हूं, असङ्ग, इन रूपादि विषयों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि जिसके लिये यह हैं, वह देह वा बुद्धि में नहीं, मैं इनसे परे हूं। † केवल ज्ञान, अज्ञान की वासना भी नहीं रहती है।

जाता है, यही मोक्ष वा अपवर्ग है। अब जब कि दोनों काम पूरे हो चुके, तो प्रकृति उसके लिए कोई रचना नहीं रचती, न उसके लिए अब प्रकृति की सृष्टि (भोग्य वस्तुओं) का कोई फल है। ज्ञान से पूर्व प्रकृति पुरुष के लिए अपने रचे अन्तःकरण में ज्ञान से अतिरिक्त और सारी अवस्थाएं उत्पन्न कर देती थी। कभी अन्तःकरण में धर्म का परिणाम (तबदीली) होता था, कभी अधर्म का, कभी जगत् में दुःख देखकर वैराग्य उत्पन्न होता था, कभी सुख देखकर जी लगजाता था, (राग उत्पन्न होता था) कभी ऐश्वर्य को बढ़ा देती थी, कभी उसे ऐश्वर्य से परे फेंकती थी, इसतरह की अठखेलियां पुरुष के साथ कर रही थी। अब ज्ञान के उत्पन्न होने पर वह सातों रूप इससे दूर होजाते हैं, इसके मन में अब कोई परिवर्तन नहीं होता, वह हरएक परिवर्तन से अब ऊपर होगया है, केवल ज्ञान ही उसके अन्तःकरण में अब है, इससे अतिरिक्त और कोई परिवर्त्तन नहीं रहा॥

पुरुष प्रकृति को केवल देखता ही है

इसलिए अब पुरुष शान्त होकर, पास खड़ा होकर, तमाशा देखने वाले की तरह प्रकृति को देखता है। पहले वह स्वयं एक नट की तरह तमाशा दिखला रहा था, अब देखनेवाले की तरह देखता है॥

संगति–(प्रश्न) क्या प्रकृति के तत्वको जानकर आत्मा प्रकृति के साथ रहता है, वा छोड़कर चला जाता है। छोड़कर जाना तो हो नहीं सक्ता, क्योंकि प्रकृति सारे विद्यमान है। और यदि वह प्रकृति के साथ रहता है, तो प्रकृति और पुरुष का संयोग बना रहा, सो जिसतरह प्रकृति और पुरुष के संयोग से पहले सृष्टि होती थी, अब भी होनी चाहिए, इसका उत्तर देते हैं॥

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या।
सति संयोगेपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥६६॥

अर्थ—'मैंने देखली है'! इससे एक वेपरवाह होजाता है, और "मैं देखी गई हूं" इस से दूसरी काम वन्दकर देती है। सो उन दोनों के संयोग के होते हुए भी सृष्टि का प्रयोजन नहीं॥

संयोग के होते हुए सृष्टि का न होना

निःसन्देह प्रकृति और पुरुष का संयोग तो अब भी है, पर अब सृष्टि रचना का कोई प्रयोजन नहीं रहा, पुरुष ने प्रकृति के सारे भोग भोग लिये हैं, और उसने प्रकृति का स्वरूप देख लिया है, अब उसे उस के भोगों में आनन्द नहीं रहा। अतएव वह इससे वेपरवाह होजाता है। इसी लिए प्रकृति को भी उसके लिए किसी भोग के रचने की आवश्यकता नहीं रही। वह उनके लिए रचती है, जो उसके भोगों को पसन्द करते हैं। सो प्रकृति भी यह जानकर कि इसने मेरा सब कुछ देख लिया है, अब और कुछ देखना नहीं चाहता. उसके लिए काम वन्द कर देती है। इसलिए उसके साथ रहकर भी उसके लिए कुछ नहीं करती॥

संगति—तत्वज्ञान होने पर जब भोग और अपवर्ग का काम पूरा हो चुका, तो क्या इसका शरीर उसी समय छूटकर विदेह मुक्ति होती है, वा नहीं, इसका उत्तर देते हैं—

सम्यग् ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः ॥६७॥

अर्थ—यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति से जब कि धर्म आदि अकारण वन गए, तो पुरुष संस्कार के वश से चक्र के घूमने की तरह शरीर को धारण किये ठहरा रहता है।

संस्कार के अधीन शरीर की स्थिति

जिस तरह अग्नि से भुना हुआ बीज उगता नहीं, इसी तरह ज्ञान की अग्नि से भुने हुए कर्म भी आगे नया शरीर नहीं बनाते, पर जिसतरह कुम्हार

चाक को चलाता है और जब चलाना बंद भी करता है, तब भी चाक कुछ देर तक पहले ही वेग से चलता रहता है, इसीतरह वर्तमान शरीर अपने जीवन संस्कारों के अधीन कुछ देरतक अपने आप चलता रहता है,यही अवस्था उसकी जीवन्मुक्ति कहलाती है।

संगति—जीवन्मुक्ति के अनन्तर विदेह मुक्ति बतलाते हैं:—

प्राप्ते शरीर भेदे चरितार्थत्वात् प्रधान विनिवृत्तौ।
एकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥६८॥

अर्थ—शरीर के छूटजाने पर,और चरितार्थ होने से प्रधान की निवृत्ति होने पर ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दोनों प्रकार के कैवल्य = मोक्ष को प्राप्त होता है।

चले हुए जीवन संस्कारों की समाप्ति में ज्यूं ही कि उसका | विदेहमुक्ति | शरीर छूटता है, तो प्रकृति यतः उसकी ओर से चरितार्थ हो चुकी है, इसलिये उसके लिये आगे कोई काम नहीं करती, इसप्रकार पिछला सारा सम्बन्ध प्रकृति से छूटजाता है और आगे होता नहीं। तो पुरुष एकान्तिक अर्थात् अवश्य होनेवाले और आत्यन्तिक = बना रहनेवाले केवलीभाव = मोक्ष को प्राप्त होता है।

संगति—प्रमाण से उपपादन किए हुए में भी अत्यन्त श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए परम ऋषि से इसकी प्राप्ति बतलाते हैं:—

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्।
स्थित्युत्पत्ति प्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥६९॥

अर्थ—यह पुरुष के (परम) उद्देश्य का ज्ञान जो एक रहस्य है, परमऋषि (कपिल मुनि) ने बतलाया है, जिसमें सब भूतों की स्थिति उत्पत्ति और प्रलय का विचार है॥

संगति—तथापि जो परमर्षि ने साक्षात् उपदेश किया है, वही श्रद्धेय होसक्ता है, जो फिर ईश्वर कृष्ण ने कहा है, उसमें कैसे श्रद्धा हो, इस का उत्तर देते हैं:—

शिष्यपरम्परयागत मीश्वरकृष्णेनचैतदार्याभिः।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग् विज्ञायासिद्धान्तम् ॥७१॥
एतत् पवित्र मग्र्यं मुनि रासुरयेऽनु कम्पया प्रददौ।
आसुरिरपिपञ्चशिखायतेनचबहुधाकृतंतन्त्रम् ॥७०॥

अर्थ—यह पवित्र (सब पवित्रों से) मुख्य (ज्ञान) मुनि ने अनुग्रह करके आसुरि को दिया, आसुरि ने भी पञ्चशिख को उसने आगे इस शास्त्र को बहुत फैलाया ॥ ७० ॥ फिर शिष्य परम्परा से आए इस (ज्ञान) को आर्यमति वाले ईश्वर कृष्ण ने सिद्धान्त को ठीक २ जानकर आर्याछन्दों द्वारा संक्षेप किया है ॥

संगति—यह ग्रन्थ किसके आधारपर बना है, यह बतलाते हैं :—

सप्तत्यां किलयेऽर्थास्तेर्थाः कृत्स्नस्य षाष्टितन्त्रस्य
आख्यायिकाविरहिताःपरवादविवर्जिताश्चापि ॥७१॥

अर्थ—सप्तति में जो विषय हैं, वह विषय समग्र षाष्टितन्त्र के हैं, हां आख्यायिकाएं और दूसरों से विवाद छोड़े गए हैं ॥

सांख्य सप्तति का आधार षष्टितन्त्र

सांख्यसप्तति षाष्टितन्त्र के आधार पर बनी है, उसके सविस्तर विषय इसमें संक्षिप्त किए गए हैं। और उसमें दूसरों के साथ वाद विवाद करके अपना सिद्धान्त स्थापन किया है,पर इसमें अपना सिद्धान्तमात्र दिखलाया है, विवाद छोड़ दिए हैं। उसमें आख्यायिकाओं (कहानियों) के द्वारा भी उपदेश दिए हैं, इसमें आख्यायिकाएं भी छोड़ दी हैं

षष्टितन्त्र और सांख्य सप्तति

साठ पदार्थों का उसमें वर्णन होने से उसका नाम षाष्टितन्त्र है, वह साठ पदार्थ यह है :—" प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्व मथान्यता । पारार्थ्यं च तथाऽनैक्यं

वियोगो योग एव च ॥ शेष वृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृतादश। विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः। करणानाम सामर्थ्य मष्टा विंशति धामतम्। इति षाष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धभिः"
=मुख्य अस्तित्व=सदा बने रहना, एक होना, प्रयोजनवाला होना, भेद, दूसरे के लिए होना, अनेकता, वियोग, योग, पीछे रहना, कर्त्ता न होना, यह दस मूल भूत अर्थ माने गए हैं। विपर्यय, पांच, तुष्टियें नौ, इन्द्रियों की अशक्तियां अठाइस यह, आठ सिद्धियों समेत साठ पदार्थ हैं (देखो तत्त्वसमास सूत्र १२से१८तक)

इन सांख्यकारिकाओं का नाम सप्तति इसलिए है, कि इस की कारिका सत्तर हैं। यद्यपि कारिकाएं ७२ हैं, तथापि अन्त की दो कारिकाओं में अपना और अपने शास्त्र का ही परिचय दिया है, इसलिए उनको न गिन कर सत्तर ही मुख्य हैं॥

सांख्य-शास्त्र समाप्त हुआ

यह पुस्तकें विक्री के लिये तय्यार हैं—

(क) ग्यारह उपनिषदें—मूल संस्कृत, तिस पर सरल भाषा टीका साथ है। मूल्य भी बहुत सस्ता, ग्यारह इकट्ठी लेने में ७॥)

अलग २ मूल्य यह हैं—

१—ईश	=)	७—तैत्तिरीय	।≡)
२—केन	=)	८—ऐतरेय	≡)
३—कठ	।–)	९—छान्दोग्य	२)
४—प्रश्न	।)	१०—बृहदारण्यक	२)
५,६—मुण्डक और माण्डूक्य	।–)	११—श्वेताश्वतर	।)॥

(ख) उपनिषदों के विषयों पर बड़े २ अद्भुत विचार इन ग्रन्थों में हैं—

१२—उपनिषदों की भूमिका	।)॥	१५—तीसरा भाग—मरने के पीछे की अवस्थाओं, कर्म और चरित्र और सामाजिक जीवन का वर्णन	॥)
१३—उपनिषदों की शिक्षा—पहला भाग-परमात्मा का वर्णन	॥=)	१६—चौथा भाग—उपासना ज्ञान, और मुक्ति का वर्णन	॥=)
१४—दूसरा भाग—जीवात्मा और पुनर्जन्म का वर्णन	॥)		

(ग)(१७) श्रीमद्भगवद्गीता—मूल श्लोक बड़े मोटे अक्षरों में, नीचे एक २ पद का अर्थ, फिर अन्वयार्थ, फिर सविस्तर भाष्य है। इस पर भी गवर्नमिन्ट पञ्जाब से ३००) रु० पारितोषिक मिला है।

(१८) गीता हमें क्या सिखलाती है ।)॥

(घ) वेद के उपदेश—वेदमन्त्रों के व्याख्यान।

(१९)वेदोपदेश—प्रथम भाग ॥।) **(२०)—दूसरा भाग वा स्वाध्याययज्ञ** ॥।) **(२१)—आर्यपञ्चमहायज्ञपद्धति** बड़े सविस्तर भाष्य सहित ।)॥

(ङ) दर्शनशास्त्र—

२२—वेदान्तदर्शन दो जिल्दों में पहला भाग १॥।=) दूसरा भाग १॥।=) इकट्ठे दोनों भाग ३॥) **(२३) योगदर्शन** सविस्तर

भाष्य समेत ।।।) (२४)नवदर्शन संग्रह आर्यावर्त के नौ दर्शनों के सिद्धान्तों का पूरा वर्णन १)

(च)गृह्यसूत्र—(२५)पारस्करगृह्यसूत्र—सूत्रों का भाष्य सूत्रानुसार संस्कारों की पद्धतियां, मन्त्रों के अर्थ और मन्त्रों के हवाले साथ हैं—भाषा में आगे कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं छपा ॥ १॥)

(२६) श्रीवाल्मीकि रामायण प्रथम भाग ३) द्वितीय भाग २।)

(२७) स्वामि शङ्कराचार्य्यका जीवनचरित्र कुमारिल भट्टाचार्य और मण्डन मिश्र का जीवन चरित्र साथ है ॥)

(ज) धर्म के उपदेश—(२७) उपदेश सप्तक ।—) (२८) वासिष्ठ धर्म सूत्र ।)॥ (२९)प्रार्थना पुस्तक—) (३०)ओंकार की उपासना—) (३१) वेद और रामायण के उपदेश —) (३२) वेद और महाभारत के उपदेश —) (३३) वेद, मनु और गीता के उपदेश —)। (३४) तप और दीक्षा)॥

(३५) कपिलमुनि प्रणीत तत्त्वसमास, पंचशिखाचार्य प्रणीत सांख्यसूत्र और सांख्य सम्मति मूल्य ॥=)

नोट१—मनुस्मृति, संक्षिप्त महाभारत, निरुक्त और शतपथ छपेंगे॥

नोट २—इकट्ठी पुस्तक मंगवाने पर रिआयत दी जाती है। और आर्यग्रन्थावलि के ग्राहकों को विशेष रिआयत दी जाती है॥

नोट ३—कार्य्यालय आर्यग्रन्थावलि से इसके सिवाय और भी सब प्रकार की हिन्दी संस्कृत पुस्तकें रिआयत से मिल सक्ती हैं॥

पता—मैनेजर आर्यग्रन्थावलि

लाहौर ।